श्री जैनधर्म-शिक्षावलिका

(भाग सातवां)

लेखकः—

उपाध्याय जैन-मुनी श्री आत्मारामजी (पंजाबी).

प्रकाशकः—

श्री जैन स्वरूप लायब्रेरी,

खाचरोद (ग्वालियर).

मुद्रकः—सरदार प्रिंटिंग वर्क्स, इंदोर.

वक्तव्य ।

प्रिय मुज्ञ पुरुषों ! जैन दर्शन में संग्रह नय के मत से जीव और अजीव द्रव्य ये दोनों अनादि अनन्त माने गए हैं। किन्तु साथ ही यह वर्णन कर दिया है कि भव्यात्माओं के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि सान्त है ।

सो जिन जीवों को मोक्ष के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मिल जाते हैं वे जीव अनुकूल सामग्री के द्वारा आत्म विकास करते हुए अनुक्रम से निर्वाण पद प्राप्त कर लेते हैं । वास्तव में निर्वाण पद की प्राप्ति के लिये सम्यग दर्शन, सम्यग ज्ञान और सम्यग चारित्र ही हैं किंतु इन तीनों का समावेश दो अंकों में किया गया है जैसे कि " ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः " ज्ञान और क्रिया से ही मोक्षः पद प्राप्त हो सक्ता है ।

सो मुमुक्षु आत्माएं सदैव उक्त दोनों पदार्थों के आराधन में लगी रहती हैं । परन्तु काल की वडी विचित्र गति है जो वह अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता जैसे कि:—इस काल में प्रायः लोगों की रुचि धार्मिक क्रियाओं की और दिन प्रति दिन न्यून होती जारही है । यद्यपि इसमें काल दोप भी

माना जाता है किन्तु साथ ही यह कहे बिना भी नहीं रह जाता कि धार्मिक शिक्षाओं की ओर जनता का ध्यान बहुत न्यून है इसीलिये दिन प्रति दिन सदाचार के स्थान पर कदाचार अपना आसन जमा रहा है।

जनता का ध्यान फिर कदाचार से हटकर सदाचार की ओर झुक जाय इसी आशा से प्रेरित होकर इस जैन धर्म शिक्षावली नामक पुस्तक की रचना की गई है। इस भाग में सूक्ष्म और स्थूल दोनों विषयों का समावेश किया गया है जो विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी समझा गया है। इस बात में कोई भी संदेह नहीं है कि यावत्काल पर्य्यंत विद्यार्थियों को योग्यता पूर्वक शिक्षण न दिया जायगा, तावत्काल पर्य्यंत वे धार्मिक क्रियाओं से अपरिचित ही रहते हैं।

अतएव अध्यापको को उचित है कि वे विद्यार्थियों को जो सूक्ष्म विषय भी हों वे बडी योग्यता पूर्वक सिखलावें जिससे वे धार्मिक तत्वों से पूर्णतया परिचित होजावें।

यदि विचार कर देखा जाय तो यह भली भांति विदित हो जाता है कि धार्मिक शिक्षा ही के बिना देश वा धर्म का अधःपतन हो रहा है। यदि योग्यता पूर्वक धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार किया जाय तब जिस प्रकार वर्षा के होने पर पुष्प विकसित होने लग जाते हैं ठीक उसी प्रकार धार्मि

शिक्षाओं के सेवन से आत्माएं भी विकास के मार्ग में प्रविष्ट होने लग जाती हैं जिससे फिर कदाचार कोसों दूर भागने लगता है।

इस लिये प्रत्येक व्यक्ति को सबसे प्रथम धार्मिक शिक्षाओं की ओर ही ध्यान देना चाहिये। तथाः—

इन सात भागों में यथा योग्य और जिस प्रकार बालक धार्मिक शिक्षाओं से विभूषित होकर अपने आत्मा को विकास मार्ग की ओर लेजा सके उसी प्रकार से उद्योग किया गया है। तथा जिस प्रकार श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन समाज ने इस पुस्तक के छः भागों को अपनाया है ठीक उसी प्रकार इसी पुस्तक के सातवें भाग को भी अपनाकर अपने होनहार बालकों को जैन धर्म की परम मार्मिक शिक्षाओं से विभूषित करें जिससें उन बालकों का स्वभाव सदाचार की ओर ही लगा रहे।

शास्त्रों में श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने धर्म प्राप्ति के मुख्यतया दो कारण ही प्रतिपादन किये हैं। जैसे कि सुनना और फिर उसका अनुभव द्वारा विचार करना। इन दोनों कारणों से धर्म प्राप्ति हो सक्ती है।

क्योंकि जब सुनते हैं किंतु अनुभव नहीं करते तदपि प्राप्ति से वंचित ही रहना पडता है। यदि अनुभव के

द्वारा ठीक विचार कर सकते हैं किंतु किसी धार्मिक शिक्षा-
ओं को सुनते नहीं तो फिर धर्म से वंचित रहना पडता है
अतएव सिद्ध हुआ कि धर्म का सबसे प्रथम श्रवण करना
मुख्य कर्तव्य है फिर उसका अनुभव द्वारा निश्चय करना
विशेप कार्य साधक है।

अतएव श्री भगवान की परम शिक्षाओं का अनुपालन
करते हुए प्रत्येक प्राणी को चाहिये कि वह धार्मिक शिक्षाओं से
विभूशित होकर मोक्षाधिकारी वनें। सुज्ञेषु किं वहुना।

भवदीय,
उपाध्यायः—जैन मुनि आत्माराम।
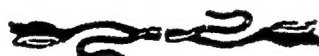
ॐ

श्री जैन धर्म शिक्षावली.

सातवाँ भाग.

नमोत्थुणं समणस्स भगवतो महावीरस्स (णं)

प्रश्नः—जीव किसे कहते हैं?

उत्तरः—जो आयुष्य कर्म के द्वारा अपना जीवन व्यतीत करता है।

प्रश्नः—जीव सादि है या अनादि?

उत्तरः—जीव अनादि है.

प्रश्नः—सादि किसे कहते हैं?

उत्तरः—जिसकी आदि हो

प्रश्नः—अनादि किसे कहते हैं?

उत्तरः—जिसकी आदि न हो.

प्रश्नः—जब आयुष्य कर्म के क्षय होनेसे जीव की मृत्यु होना सिद्ध है तो फिर जीव अनादि किस प्रकार रहा?

उत्तरः—आयुष्य कर्म के क्षय होजानेसे शरीर और जीव का जो परस्पर सम्बन्ध हो रहा था उसका वियोग हुआ परंतु आत्मा का नाश नहीं हुआ क्योंकि आत्मानें

उस शरीर को छोडकर फिर अन्य शरीर धारण कर लिया परंतु जीव का नाश किसी प्रकार से भी नहीं माना जा सकता कारण कि अनादि पदार्थों का नाश नहीं होता.

प्रश्नः—जीव नित्य है या अनित्य ?

उत्तरः—जीव किसी अपेक्षा से नित्य भी है और अनित्य भी है.

प्रश्नः—उस अपेक्षा का वर्णन कीजिये जिससे जीव की नित्यता या अनित्यता भली प्रकार से जानी जा सके?

उत्तरः—जीवद्रव्य की अपेक्षा से जब हम विचार करते हैं तब द्रव्यार्थिक नय के मत से सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य स्वकीय द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है. तीनों काल में एक रस मय है. किंतु जब हम कर्मों की अपेक्षा से इसकी पर्यायों पर विचार करते हैं तब निश्चित होता है कि जीव द्रव्य अनित्य है जैसे कि:—जब जीव स्वकर्मानुसार चारों गतियों में परिभ्रमण करता है तब गतियों की पर्यायों की अपेक्षा से जीव में अनित्यता आजाती है क्योंकि "उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य" द्रव्य का लक्षण माना गया है. अतएव जब पूर्व पर्याय का नाश होता है तब उत्तर पर्याय का उत्पाद माना जाता है जैसे कि कोई जीव मनुष्य जन्म की पर्याय को

छोडकर देव पर्याय को प्राप्त होगया तब उसके मनुष्य पर्याय का तो नाश और देव पर्याय का उत्पाद माना जाता है किंतु जीवद्रव्य की ध्रौव्यता दोनों पर्यायों में सद्रूप रहती है. अतएव द्रव्यत्व की अपेक्षा जीवद्रव्य नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से जीवद्रव्य अनित्य है.

प्रश्नः—जीव द्रव्य अनादि क्यों है ?

उत्तरः—इसके कारण की अनुपलब्धता है. क्योंकि जिन कार्यों का कारण सिद्ध है वे कार्य अपनी अनादिता सिद्ध नहीं कर सके. अतः जिन २ पदार्थों के कारणता का अभाव माना जाता है वे पदार्थ अनादि होते हैं.

प्रश्नः—अनादि किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिसकी आदि उपलब्ध न हो.

प्रश्नः—ऐसा कोई दृष्टांत दो ?

उत्तरः—जैसे जीवद्रव्य को ही लेलीजिये क्योंकि यह द्रव्य भी अनादि माना गया है.

प्रश्नः—इसके अतिरिक्त कोई अन्यभी हेतु है !

उत्तरः—हां जैसे आकाशास्तिकाय वा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि.

प्रश्नः—जीवद्रव्य के कितने भेद हैं ?

उत्तरः—जीव द्रव्य तो षट द्रव्यों में केवल एक ही भेद वाला है परंतु मुख्यतया इसके दो भेद हैं. जैसे कि बद्ध और मुक्त.

प्रश्नः—मुक्त जीव के कितने भेद हैं ?

उत्तरः—मुक्त आत्मा भेदों से रहित है परंतु व्यवहार नय की अपेक्षा से १५ प्रकार के जीव सिद्धगति प्राप्त करते हैं.

प्रश्नः—वे १५ भेद कोन २ से हैं ?

उत्तरः—एकान्तता से श्रवण कीजिये.

१ **तित्थ सिध्दाः**—जिस समय श्री तीर्थंकर देव अपने धर्मोपदेश व्दारा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चारों तीर्थों की स्थापना करते हैं उस तीर्थ में जो आत्माएं ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्यकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म, और अंतरायकर्म इन आठों कर्मों को क्षय कर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं उन जीवों को तीर्थसिध्द कहते हैं.

२ **अतित्थ सिध्दाः**—जबतक श्री भगवान् ने अपने धर्मोपदेश व्दारा तीर्थ स्थापन नहीं किया उस समय कोई आत्मा मोक्ष पद प्राप्त कर लेवे तब उसको अतीर्थ सिध्द कहते हैं. जैसे कि—भगवान् ऋषभदेव प्रभु की मरुदेवा माता ने निर्वाण पद प्राप्त किया था.

३ तित्थयर सिध्दाः—तीर्थंकर पद पाकर जो जीव सिध्द पद प्राप्त करते हैं उन्हें तीर्थंकरसिध्द कहते हैं क्योंकि यह पद एक विशेष पुण्य के कारण से प्राप्त होता है.

४ अतित्थयरत्थ सिद्धः—जो सामान्यकेवली होकर मोक्षारूढ होते हैं. क्योंकि राग और द्वेष के क्षय होने से ही केवलज्ञान की प्राप्ति प्रत्येक जीव कर सक्ता है किन्तु तीर्थंकर नामकर्म विशेष पुण्य के उ.य से प्राप्त होता है. केवलज्ञान प्रत्येक जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनी, और अतराय कर्म के क्षय करने से प्राप्त कर सकता है .

५ स्वयंबुध्द सिध्दाः—किसी के उपदेश के विना वैराग्य भाव प्राप्त कर दीक्षित होजाना और फिर केवलज्ञान पाकर मोक्ष पद प्राप्त करना इसे स्वयंबुद्ध सिद्ध कहते हैं ।

६ पतेय वुध्द सिद्धाः—किसी एक वस्तु को देखकर जो बोद्ध प्राप्त करता है इसेही प्रत्येक बुद्ध कहते हैं. जिस प्रकार नमीराजर्पि चूडियों का शब्द सुनकर वोद्ध को प्राप्त होगए थे इस प्रकार अनेक व्यक्ति ऐसे होगए हैं जो प्रत्येकबुद्ध होकर मोक्षारूढ हुए हैं.

७ बुद्ध बोहिय सिध्दाः—जो गुरु के उपदेश के

द्वारा धर्म के मर्म को समझकर फिर दीक्षित हुए हैं और फिर कर्म क्षयकर मोक्ष पद जिन्होंने प्राप्त किया है उन्हीको वुद्ध वोधित सिद्ध कहते हैं.

८ **इत्थीलिंग सिध्दाः**—जो स्त्री के वेष (चिन्ह) में केवलज्ञान पाकर मोक्ष होगए हैं उन्हें स्त्रीलिंग सिद्ध कहते हैं जैसे चंदनवालादि अनेक आर्याएँ मोक्ष गई हैं. क्योंकि स्त्रीवेद मोक्ष पद का वाधक है न कि स्त्रीलिंग.

९ **पुरिस लिंग सिध्दाः**—जो पुरुषलिंग में मोक्ष गए हैं जैसे गौतमस्वामी आदि अनेक महापुरुषों ने राग द्वेषादि अंतरंग शत्रुओं को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त किया फिर चारों अघातिये कर्म क्षयकर मोक्ष पद पाया उन्हें पुरुषलिंग सिद्ध कहते हैं.

१० **नपुंसक लिंग सिध्दाः**—जो नपुंसकलिंग में रहने वाले जीव हैं. जब उन्होंने आठों कर्मों को क्षयकर दिया तब वे मोक्षारूढ होगए अतः उनका नाम नपुंसकलिंग सिद्ध है.

११ **सलिंग सिध्दा**—जैन मुनि के वेष में जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य-कर्म, नाम कर्म, गोत्रकर्म और अंतराय कर्म को क्षयकर मोक्ष होते हैं उन्हों का नाम स्वलिंग सिद्ध है.

१२ अन्यलिंग सिद्धाः—जैन मत से अतिरिक्त जो अन्य मत हैं उनके वेष में जो सिद्ध होते हैं उन्हीं का नाम अन्यलिंग सिद्ध है. क्योंकि मोक्ष पद किसी मत के अधीन नहीं है किन्तु जिस आत्मा का राग और द्वेष नष्ट होगया हो तथा जो आत्मा आठों कर्मों से विमुक्त होगया हो वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है.

१३ गिहिलिंग सिध्दाः—गृहस्थ के वेष में सिद्धपद प्राप्तकर सक्ता है. क्योंकि बाह्य वेष, मोक्ष पद का बाधक नहीं है किन्तु अंतरंग शत्रु वा आठों कर्म मोक्ष पद के बाधक है. अतः राग और द्वेष के क्षय करने वाले गृहस्थ लोग भी मोक्ष पद प्राप्त कर सकते हैं.

१४ एग सिध्दाः—एक समय एक ही जीव सिद्धपद प्राप्त करे. तब एक सिद्धा कहाजाता है.

१५ अणेग सिध्दाः—एक समय में यदि अनेक जीव सिद्धपद की प्राप्ति करते हैं तब अनेक सिद्ध कहे जाते हैं.

प्रश्न—सिद्ध आत्माओं के कौन २ से प्रसिद्ध नाम हैं ?

उत्तरः—सिद्ध आत्माओं के अनेक शुभ नाम प्रसिद्धि में आरहे हैं जैसे कि:—अजर, अगर, पारंगत परम्परा-

गत, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्मा, परमेश्वर ईश्वर, शुद्धात्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली इत्यादि अनेक नाम सिद्धात्माओं के सुप्रसिद्धि में आरहे हैं.

प्रश्नः—सिद्ध भगवान या परमात्मादि नामों के जपने से किस फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तरः— आत्मा की शुद्धि होजाती है क्योंकि श्री भगवान का जाप करने से निर्मल और विशुद्ध भाव उत्पन्न हो जाते हैं और उन भावों के कारण से आत्मा अपनी विशुद्धि कर लेता है

प्रश्नः—भला नाम रटने से आत्मा अपनी विशुद्धि किस प्रकार कर सक्ता है क्योंकि यदि परमात्मा फल प्रदाता मानाजाय तव वो विशुद्धि होना भी युक्ति युक्त सिद्ध हो जायगा सो ईश्वर फल प्रदाता तो माना जाता ही नहीं तो नाम रटने से विशुद्धि किस प्रकार मानी जा सक्ती है ?

उत्तरः—जिस प्रकार एक वस्त्र मल युक्त है. जब कोई व्यक्ति उस वस्त्र को जल वा क्षारादि के द्वारा धोता है तव उसके योग्य पुरुषार्थ के कारण से वह वस्त्र शुद्ध हो जाता है. ठीक उसी प्रकार मलयुक्त जीव जब सिद्ध भगवान का शुद्ध अन्तःकरण से जाप करता है तब उस आत्मा के आत्म प्रदेशों से कर्म मल

पृथक हो जाता है जिससे वह आत्मा विशुद्धि को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्नः—भला नाम रटने से कर्म रूपी सर्प किस प्रकार भाग सकते हैं ?

उत्तरः—जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष को सर्प चिपटे हुए होते हैं जब वे मयूर (मोर) वा गरुड़ के शब्द को सुनते हैं तब वे शब्द को सुनकर भाग जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जब आत्मा अर्हंत वा सिद्ध भगवंतों का नाम स्मरण कर लेता है तब उसके अंतःकरण में समभाव उत्पन्न होजाता है फिर उस समभाव के उत्पन्न होजाने से उसकी प्राणी मात्र से निर्वैरता होजाती है। जिस समय निर्वैरता हुई तब उस समय उस आत्मा के राग द्वेष के भाव सम होजाते हैं जिस कारण से फिर वह अत्मा कर्म क्षय वा प्रायः शुभ कर्मों का ही बंधन करता है। अतएव, अर्हंत वा सिद्ध आत्माओं का आत्म विशुद्धि के लिये पाठ अवश्य करना चाहिये.

प्रश्नः—कर्म शत्रु नष्ट करने के लिये उष्ण भावों की अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि यावत्काल पर्यंत शत्रु को उग्रभाव न दिखाया जावे तावत्काल पर्यंत वह शत्रु

पीछे नहीं हट सकता। अतः समभाव कर्म शत्रुओं को किस प्रकार पराजय कर सकता है?

उत्तरः—प्रियवर! समभाव के द्वारा एक प्रकार की अलौकिक शांति आत्म प्रदेशों में प्रादुर्भाव में आजाती है। जिस प्रकार शीतल जल यदि किसी नींव में प्रविष्ट होजाय तब वह उस नींव को स्खलित कर देता है जिसके कारण से फिर उस नींव पर चुनेहुए प्रासादादि नहीं ठहर सकते हैं तथा जिस प्रकार हेमपुंज (बर्फ का ढेर) बड़े २ वृक्षों को सुखा देता है ठीक उसी प्रकार आत्मा का समभाव कर्मों के पराजय करने में अपनी समर्थता रखता है। तथा जिस प्रकार अत्यंत उष्ण और प्रचंड अग्नि के शांत करने के लिये मेघ का जल, कार्य साधक होता है ठीक उसी प्रकार आत्मा के समभाव कर्म शत्रुओं के उपशम वा क्षयोपशम तथा क्षय करने में समर्थ होते हैं।

प्रश्नः—आत्मा में समभाव किस प्रकार उत्पन्न किया जाय?

उत्तर—जब श्री भगवान के जाप करने का समय उपस्थित हो जावे तब प्रथम ही प्राणि मात्र के साथ निर्वैरता के भाव धारण करलेने चाहिये। फिर पाठ करते समय उनके गुणों की ओर विशेष ध्यान रखना

चाहिये क्योंकि उनके गुणों के आश्रित होकर ही अपने आत्मा में गुण उत्पन्न करलेने चाहिये।

प्रश्नः—इस विषय में कोई दृष्टांत देकर समझाओ ?

उत्तर—जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुष्प पंक्ति की ओर एक दृष्टि लगाकर देखता रहे तथा चन्द्रमा या जल की ओर देखता रहे तब उस आत्मा के चक्षुओं में शांति के परमाणुओं का संचार होजाता है जिसके कारण से उनके चक्षुओं में शांति आजाती है। ठीक उसी प्रकार श्री भगवान का स्मरण करते हुए एकतो आत्मा में शांति का संचार होजाता है, द्वितीय वर्ण विपर्यय करने से आत्म कल्याण होजाता है जैसे कि:-- **जिन** ध्यान करते २ जब वर्ण विपर्यय किया गया तब **निज** ध्यान बन जाता है। जब **निज** ध्यान होगया तब **जिन** ध्यान करते समय जो २ गुण जिनेंद्र भगवान में अनुभव द्वारा अनुभव करने में आये थे फिर वे सर्व गुण **निज** आत्मा में माने जा सकते हैं.

प्रश्नः--इसमें कोई प्रमाण दो ?

उत्तरः—जिस प्रकार सिद्ध भगवान सर्वज्ञ वा सर्व दर्शी हैं ठीक उक्त गुण मेरे आत्मा में भी विद्यमान हैं किंतु ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के माहात्म्य से

छुपा हुआ है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान शारीरिक और मानसिक दुःखों से रहित हैं ठीक उसी प्रकार मेरा आत्मा भी उक्त गुण धा ण करने में समर्थ है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान क्षायिक सम्यक्त्व के गुणसे युक्त हैं ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय करने से वह उक्त गुण मेरी आत्मा में भी उत्पन्न हो सकता है।

प्रश्नः—आत्म विशुद्धि करने के लिये मुख्य कौन २ उपाय हैं ?

उत्तरः—जैन सूत्रों में आत्म विशुद्धि करने के लिये मुख्य दो ही उपाय कथन किये गए हैं।

प्रश्नः—उन दोनों उपायों के नाम बतलाइये ?

उत्तर—ज्ञान और क्रिया।

प्रश्नः—ज्ञा किसे कहते हैं ?

उत्तरः—पदार्थों को यथावत् जानना अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीन गुण देखे जाते हैं क्योंकि ध्रौव्य उस पदार्थ का निज गुण है। किंतु उत्पाद और व्यय ये दोनों उस पदार्थ के पर्यायिक गुण हैं सो जिस प्रकार पदार्थ में निश्चय और व्यवहार नाय से गुण पाये जाते हैं उन गुणोंको उसी

प्रकार जानना यही आत्मा का ज्ञान गुण कहाजाता है सो प्रत्येक पदार्थ का ठीक ज्ञान होजाना फिर क्रियाओं द्वारा अपने अभीष्ट की सिद्धि करना इससे आत्मा विशुद्ध होकर निर्वाण प्राप्त करलेता है. जैसे कल्पना करो कि एक वस्त्र मलसे मलीयस होरहा है तब ज्ञान से जान लिया गया कि यह वस्त्र मलसे मलीन होगया है फिर क्रियाओं द्वारा उसे शुद्ध किया जासक्ता है जैसे कि क्षार पदार्थ वा स्वच्छ जलादि की पूर्ण सामग्री के मिल जाने से वह वस्त्र अपने निज गुण को धारण कर लेता है. ठीक उसी प्रकार असंख्य प्रदेशी आत्मा अनंत कर्म वर्गणाओं से लिप्त होरहा है तब वे वर्गणाएं तप संयमादि के द्वारा आत्म प्रदेशों से प्रथक की जासकती हैं. जब वे वर्गणाएं सर्वथा आत्म प्रदेशों से प्रथक होजाती हैं तब आत्मा अपने निज स्वरूप में प्रविष्ट होजाता है जिससे फिर उसके आत्मिक गुण भी प्रकट होजाते हैं।

प्रश्नः—क्रिया के द्वारा कर्म किये जाते हैं जब तक क्रिया का निरोधन नहीं किया जायगा तबतक कर्म भी आने से नहीं रुकेंगे अतएव, यह मानना कि क्रिया से जीव कर्मों से रहित होजाता है यह पक्ष स्वयं बाधित है.

उत्तरः—प्रिय मित्रवर्य्य। यह कथन स्याद्वाद के सिद्धांत पर अवलम्बित है क्योंकि स्याद्वाद में प्रत्येक पदार्थ सापेक्षिक भाव में रहता है जैसे कि जीव सक्रिय भी है और अक्रिय भी है क्योंकि जैन सूत्रों में जीवक्रिया और अजीवक्रिया इस प्रकार क्रिया के दो भेद प्रतिपादन किये गए हैं. साथ ही यह भी प्रतिपादन कर दिया है कि सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया यह दोनों जीव क्रिया के भेद हैं परन्तु इर्यापथिकी और समुदान की क्रिया यह दोनों अजीव क्रिया के भेद हैं सो। आत्मा सम्यक्त्व क्रिया के द्वारा अजीव क्रिया से रहित होकर निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है किन्तु जीव क्रिया के अपेक्षा से जीव मोक्ष में भी अक्रियता ही धारण किये रहता है जैसे किः—जब आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है तब उस आत्मा के साथ एक उपयोग आत्मा भी रहता है। जो कि क्षायिक सम्यक्त्व के हो जाने से फिर अनंतज्ञान में बलवीर्यांतराय कर्म के क्षय के कारण से उपयुक्त कराता है वही जीव की अक्रियता (चेष्टा) सिद्ध करता है. किन्तु जिनके द्वारा आठ कर्मों का आत्मा के साथ बंधन होजावें तथा आत्मा पुद्गल

के सम्बन्ध में फंसा रहे उस क्रिया के फलरूप कर्म से आत्मा विमुक्त होजाता है।

प्रश्नः—आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप नहीं है किन्तु ज्ञान पदार्थों से उत्पन्न होता है जैसे किसी को प्रथम घट का ज्ञान नहीं था जब उसने फिर किसी घट को देखा तब उसको घट का ज्ञान उत्पन्न होगया तो इससे स्वतः सिद्ध होजाता है, जब कि घट से पूर्व उस व्यक्ति को घट का ज्ञान नहीं था किन्तु जब उसने घट को देख लिया तब उसको घट का ज्ञान होगया इसलिये आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है किन्तु ज्ञान पदार्थगत ही सिद्ध होता है।

उत्तरः—प्रियवर! यह कथन आपका युक्ति बाधित है क्योंकि जब आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप न होता तब वह घटादि पदार्थों का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सक्ता? जिस प्रकार आंखों को निर्मल होनेपर ही पदार्थों का ठीक २ ज्ञान हो सक्ता है ठीक उसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप होने पर ही पदार्थों का अवबोध प्राप्त कर सकता है क्योंकि जिस प्रकार दीपक स्वयं और पर प्रकाशक होता है ठीक उसी प्रकार आत्मा के विषय में भी जानना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार दीपक पदार्थों से न उत्पन्न होने पर

भी पदार्थों का प्रकाशक देखा जाता है ठीक उसी प्रकार आत्मज्ञान भी पदार्थों से उत्पन्न न होने पर भी पदार्थों का प्रकाशक मानाजाता है।

प्रश्नः—ज्ञान नित्य है किम्वा अनित्य ?

उतरः—कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य भी है.

प्रश्नः—यह दो बातें किस प्रकार मानी जावे कि ज्ञान नित्य भी है और अनित्य भी है ?

उतरः—जैन मत में सर्व पदार्थों का वर्णन स्याद्वाद के आश्रित होकर किया गया है जैसे किः—आत्मद्रव्य नित्य होनेपर उसका ज्ञानगुण भी नित्य ही माना जा सकता है परंतु जिन पदार्थों का ज्ञान हुआ है वे पदार्थ अनंत पर्याय युक्त हैं अतः उनके पूर्व पर्याय का व्यवच्छेद और उत्तर पर्याय का उत्पाद समय २ पर होता रहता है। जब पदार्थों की इस प्रकार की दशा है तब उनके समान उत्पाद और व्यय नयकी अपेक्षा से ज्ञान गुण में भी नित्य पक्ष और अनित्य पक्ष की संभावना की जासकती है। सो उक्त न्याय से सिद्ध हुआ कि ज्ञानगुण नित्य भी है और अनित्य भी है।

जिस प्रकार प्राग भाव और प्रध्वंसा भाव का ज्ञान नित्य और अनित्य माना जाता है ठीक उसी

प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिये.

प्रश्नः— प्रागभाव किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिस पदार्थ का वर्तमान काल में उस आकृति रूप का अभाव हो जैसे मिट्टी में घट। यद्यपि वह घट मृतिका रूप में सद्रूप है परंतु वर्तमान में घटाकार में उसका अभाव माना जाता है सो इसी का नाम प्रागभाव है.

प्रश्नः—प्रध्वंसाभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर—जब वह घट अपने घटाकार को छोडकर अन्य रूप को प्राप्त होजाता है अर्थात् फूट जाता है सो उसी का नाम प्रध्वंसाभाव है। जिस प्रकार प्रथम प्रागभाव का ज्ञान सद्रूप है ठीक उसी प्रकार प्रध्वंसाभाव में भी ज्ञान सद्रूप विद्यमान रहता है। परंतु प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का परस्पर महा विरोध रहता है सो इसी में नित्य पक्ष और अनित्य पक्ष की संभावना की जासकती है।

प्रश्नः—आत्मा अनुरूप है या विभुरूप ?

उत्तरः—यदि आत्मा को अनुरूप माना जाय तब उसके रहने का एक स्थान भी शरीर के भीतर मानना पडेगा। जब उस आत्मा का एक स्थान नियत

होगया है तब उसी स्थान पर ही सुख वा दुख की संभावना की जासकेकी, नतु सर्व शरीर पर।

सो यह पक्ष प्रत्यक्ष में विरोध रखता है क्योंकि ऐसा देखने में नहीं आता है कि शरीर के किसी नियत स्थान पर ही सुख वा दुःख का अनुभव किया जा सकता हो।

अतएव सिद्ध हुआ कि आत्मा को अनुरूप मानना युक्ति संगत नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय कि जिस प्रकार दीपक एक स्थान पर ठहरने पर प्रकाश सर्वत्र करता है ठीक उसी प्रकार आत्मा के विषय में भी जानना चाहिये।

सो यह कथन भी युक्ति शून्य हैं क्योंकि वायु आदि के आघात से दीपक को हानि पहुंच सकती है नतु प्रकाश को। इस कथन से तो हमारा प्रथम पक्ष ही सिद्ध होगया जो कि हमने कहा था कि नियत स्थान पर ही सुख वा दुख का अनुभव होना चाहिये। अतएव अनुरूप जीव मानना युक्तियुक्त नहीं है।

अपितु जिस प्रकार अनुरूप जीव मानने पर आपत्ति आती है ठीक उसी प्रकार विभु मानने पर भी दोपापत्ति आजाती है जैसे कि:— जब जीव को विभुरूप माना गया तब सुख वा दुःख का अनुभव

शरीर के अतिरिक्त बाहिर होना चाहिये सो ऐसा नहीं होने से यह पक्ष भी प्रत्यक्ष से विरोध रखता है तथा जब अनंत आत्मा के मानने पर फिर प्रत्येक आत्मा को "विभु" रूप माना जाय तब उन आत्माओं के आत्मा प्रदेशों या कर्मों की परस्पर संक्रमना अवश्य होजायगी। जिनसे फिर संकट दोष की प्राप्ति सहज में ही होजायगी। अतएव विभुरूप मानना भी युक्ति युक्त नहीं है। तथा जब हम देखते हैं तब बुद्धि आदिका अनुभव शरीर के भीतर ही किया जाता है न तु शरीर से बाहर.

यदि ऐसा कहा जाय कि:- जब किसी वस्तु का अनुभव करना होता है तब एकान्त स्थान या उर्ध्व दिशा की ओर ही देखा जाता है इससे स्वतः सिद्ध है कि यदि आत्मा विभुन होता तो फिर एकान्त या उर्ध्व दिशा के देखने की क्या आवश्यकता थी ?

सो यह कथन भी युक्ति बाधित ही है क्योंकि जब आत्मा सर्व व्यापक ही मानलिया गया तब फिर एकान्त या उर्द्ध दिशा के देखने की आवश्यकता ही क्या है ? क्योंकि आत्मा सर्व व्यापक एक रस-मय ही मानना पडेगा नतु न्यूनाधिक।

अतएव किसी एकान्त स्थान की तो इसलिये आव-
श्यकता पडती है कि जिससे कोलाहल या शब्दादि
का विशेष संकुल न हो क्योंकि उक्त कारणों से
चिद्‌वृत्ति स्थिर न रहने से कार्य सिद्धि का प्रायः
अभाव सा प्रतीत होने लगता है सो उक्त कारणों से
विभुरूप भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सक्ती है।

तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर आत्मा
का प्रमाण किस प्रकार मानना चाहिये ? इस प्रश्न
के उत्तर में कहा जासक्ता है कि यदि हम द्रव्य-
आत्माके प्रदेश की ओर देखते हैं तब तो वे प्रदेश
धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय तथा लोकाकाश के
यावत्‌-मात्र प्रदेश हैं तावन्मत्रा प्रदेश एक आत्मा
के प्रतिपादन किये गए हैं।

इस कथन से तो कथंचित आत्मा विभु भी माना
जा सक्ता है। किंतु आत्म प्रदेश सकुंचित और
विकास होने के स्वभाव के कारण से मध्यम
प्रमाणवर्ती प्रतिपादन किया गया है।

जैसे जिस शरीर में आत्मा प्रविष्ट होता है तब
उस आत्मा के आत्म प्रदेश तावन्मात्र शरीर में ही
व्याप्त हो जाते हैं जिससे सुख वा दुःख का अनुभव
करने वाला सर्व [सारा] शरीर देखा जाता है

क्योंकि ज्वरादि के आवेश हो जाने पर शरीर के सर्व आंगोपांग दुःख का अनुभव करते हुए दृष्टि गोचर होते हैं।

अतएव व्यवहार पक्ष में आत्मा मध्यम परिमाणवर्ती मानना युक्ति युक्त सिद्ध होता है।

प्रश्नः—क्या कभी आत्मा लोकाकाश के समान लोक में व्यापक हो जाता है?

उत्तरः—हां हो सक्ता है।

प्रश्नः—कब?

उत्तरः—जिस केवली भगवान का आयुष्यकर्म न्यून हो किंतु असातावेदनीय कर्म आयुष्यकर्म की अपेक्षा अधिक होवे तब उस केवली भगवान को केवली-समुद्घात होजाता है जिसके कारण से उनके आत्म प्रदेश शरीर से बाहिर निकलकर सर्व लोक में व्याप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार तेल का बिंदु जलोपरि विस्तार पाजाता है ठीक उसी प्रकार आत्म प्रदेश लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। यद्यपि प्रायः असातावेदनीय कर्म के भोगने के लिये ही यह क्रिया होती है तथापि लोकाकाश परिमाण आत्म प्रदेशों का विस्तार हो जाना उस अपेक्षा से आत्मा विभु कहा जा सक्ता है। यद्यपि यह दशा जीवकी

आठ समय तक ही रह सक्ती है क्योंकि फिर वह आत्म प्रदेश स्वशरीर में ही प्रविष्ठ हो जाते हैं। तथापि कथंचित् आत्माप्रदेशों के गणना की अपेक्षा से आत्मा विभुरूप भी कहा जा सक्ता है।

प्रश्नः—जो लोक प्रकृति कर्ता और पुरुष भोक्ता इस प्रकार मानते हैं तो क्या उनका कथन सत्य नहीं है?

उत्तरः—किसी प्रकार से भी उनके कथन में सत्यता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि प्रकृति जडता गुण संयुक्त है तो फिर वह कर्ता शुभाशुभ क्रियाओं की किस प्रकार सिद्ध हो सक्ती है? तथा जडता गुण वाली प्रकृति की क्रिया का फल पुरुष को मानना यह न्याय संगत नहीं है।

क्योंकि प्रत्यक्ष में देखने में आता है कि कर्ता की क्रिया का फल कर्ता को ही भोगना पडता है। जिस प्रकार शयन रूप क्रिया का फल उस कर्ता को ही होता है। जिसने शयन किया था नतु अन्य को ठीक इसी प्रकार यदि प्रकृति को ही कर्ता माना जावे तब प्रकृति को ही भोक्ता मानना चाहिये न कि पुरुष को। यदि ऐसा कहा जाय कि आपके [जैन] मत में भी योगात्मा और कषायात्मा को ही कर्ता माना गया है इसी प्रकार यहांपर भी प्रकृति विषय जानना

चाहिये। क्योंकि दोनों की समानता परस्पर सम है। इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि जो जैन मत में योगात्मा और कषायात्मा किसी नय की अपेक्षा से कर्ता मानी गई है क्योंकि उनमें भी द्रव्यात्मा का परिणमन माना गया है सो द्रव्यात्मा का परिणमन होने से ही उन आत्माओं की कर्ता संज्ञा हो गई है। क्योंकि मन वचन और काय तथा क्रोध मान माया और लोभ यह द्रव्यात्मा के आश्रित होने से ही इनकी आत्मा संज्ञा बन गई है।

सो सिद्धांत यह निकला कि प्रकृति कर्ता और पुरुष भोक्ता मानना यह पक्ष युक्ति युक्त नहीं है।

द्वितीय पाठ।

आत्मा।

शास्त्रकारों ने आत्मा विषय अनेक प्रकार से वर्णन किया है। क्योंकि आत्मा की सिद्धि हो जाने से ही फिर बद्ध और मोक्ष की सिद्धि की जा सकेगी। कारण कि बद्ध और मोक्ष कर्मों की अपेक्षा से आत्मा कथन किया गया परंतु आत्मा तो एक अजर अमर अविनाशी आदि गुणों के धारने वाला है। इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि जब आत्मा

की सिद्धि भली प्रकार से होजावे तब उस समय ही आत्मा को पुण्य और पाप आश्रव और संवर बद्ध और मुक्त इत्यादि विषयों का भली भांति बोध हो सक्ता है ।

यद्यपि प्रत्येक आस्तिक मत ने आत्मा का स्वरूप अपनी इच्छानुसार वर्णन किया है किंतु वह स्वरूप सर्वज्ञोक्त न होने से यथार्थ आत्मा का बोध नहीं करा सकता है ।

क्योंकि वे लोग स्वयं ही आत्मा विषय में भ्रम युक्त हैं । तो भला फिर वें आत्मा का यथार्थ वर्णन किस प्रकार कर सक्ते हैं । अतएव उन लोगों का आत्मा विषय कथन का संतोष प्रद निश्चित नहीं होता ।

जैसे कि किसीने आत्मा अनुरूप मान लिया है तो फिर दूसरे ने आत्मा को विभुरूप वर्णन कर दिया है, किसी ने यवाकार आत्मा स्वीकार किया है । तो फिर किसीने पांच स्कंधों का समुदायरूप आत्मा मान लिया है ।

इतना ही नहीं किंतु किसी ने आत्मा को परमेश्वर का अंश माना हुआ है तो फिर किसी ने आत्मा को ब्रह्मरूप मान रक्खा है ।

किसी ने आत्मा ज्ञानस्वरूप कथन किया है तो फिर दूसरे ने आत्मा ज्ञानगुण से शून्य मान रक्खा है वा किसी ने आत्मा को कर्त्ता माना है तो फिर किसी ने इसका

कर्तापन परमात्मा के समर्पण कर दिया है क्योंकि जब किसी ने आत्मा को ईश्वराधीन किया तो दूसरे ने इसको भवितव्यता के आधीन कर दिया है।

इतना ही नहीं किंतु अनेक प्रकार के मन्तव्य आत्मा विषय में सुने जाते हैं जो परस्पर विरोध रखनेवाले हैं।

अतः विचार करना पड़ता है कि जिन २ वादियों ने आत्मा का स्वरूप वर्णन किया है वास्तव में उन वादियोंने आत्मा का विषय भली भांति अवगत किया ही नहीं। क्योंकि यह विषय युक्ति सहन नहीं कर सक्ता है। अतएव श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामीने स्याद्वाद के आश्रित होकर उक्त विषय को यथार्थ भाव से वर्णन किया है जिसमें किसी प्रकार से भी शंका को स्थान नहीं मिल सकता।

हां, यह बात दूसरी है कि जहां पर हेतु काम न करे वहां हेत्वाभास से काम लिया जावे सो वह कदाग्रह कहलायगा नतु न्याय। अतः जैन सूत्रकारों ने सामान्यतया दो द्रव्य प्रतिपादन किये हैं जैसे कि एक आत्मद्रव्य और दूसरा अनात्मद्रव्य। यद्यपि जीवद्रव्य को आठ गुण युक्त माना गया है जैसे किः– सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, आत्मिक अक्षय सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, निरायु, अमूर्तिक, अगोत्रीय और अनंत शक्तिमान।

इन मूल गुणों के अतिरिक्त उत्तर गुण अनंत इस आत्मा के प्रतिपादन किये गए हैं।

किंतु जब आत्मा कर्मों से युक्त है तब वे उक्त गुण प्रायः कर्मों के आवरणों से आच्छादित हैं। सो कर्मों की उपाधि भेद से आत्मा एक होने पर भी आत्मद्रव्य आठ प्रकार से वर्णन कियागया है जैसे कि:-

१ द्रव्यात्मा, कषायात्मा ३ योगात्मा ४ उपयोगात्मा ५ ज्ञानात्मा, ६ दर्शनात्मा, ७ चारित्रात्मा और ८ वीर्यात्मा। जो निरंतर स्वपर्याय को प्राप्त होता रहता है उसे आत्मा कहते हैं तथा जो निरंतर ज्ञानादि अर्थों में गमन करता रहता है. उपयोग लक्षण से युक्त है उसी का नाम आत्मा द्रव्य है।

सो तीन काल में जो अपने द्रव्य की अस्तित्व रखता है किसी काल में भी द्रव्य से अद्रव्य नहीं होता और कषायादि से युक्त है उसीको द्रव्यात्मा कहते हैं।

कारण कि द्रव्य की अपेक्षा से ही आत्मद्रव्य अनादि कहाजाता है क्योंकि द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य माना जाता है सो द्रव्य नित्य प्रतिपादन किया गया है। अतएव आत्मद्रव्य भी नित्य ही सिद्ध होगया। यद्यपि द्रव्य शब्द का अर्थ द्रव्य से अद्रव्य नहीं हो सक्ता। इसलिये द्रव्यात्मा अनादि प्रतिपादन किया गया है।

जब द्रव्यात्मा पुद्गल का सम्बन्ध हो जाने से चार वस्तुओं

में गमन करने लग जाता है तब उस समय द्रव्यात्मा गौण रूप होकर प्रधान कषायात्मा नाम से फिर उसे कहा जाता है।

क्योंकि कषाय संज्ञा क्रोध, मान, माया और लोभ की कथन की गई है जैसे कि यह क्रोधी आत्मा है, यह मानी आत्मा है यह मायी (छल करने वाला) आत्मा है यह लोभी आत्मा है। सो इन चारों नामसे उस समय द्रव्यात्मा उक्त चारों में परिणित हो जाता है। उक्त ही अपेक्षा से फिर उसे कषायात्मा कहा जाता है।

फिर जिस समय द्रव्यात्मा मन, वचन और काय के व्यौपार में प्रविष्ट होता है उस समय उस द्रव्यात्मा को योगात्मा कहा जाता है। इसी नय की अपेक्षा से कहाजाता है कि अपनी आत्मा ही वश करना चाहिये। सो यहांपर आत्मा शब्द से मन आदि का वर्णन किया गया है। क्योंकि मनयोग, वचनयोग और काययोग में द्रव्यात्मा का ही परिणमन हुआ है। इसी कारण से उसे मनःयोग कहते हैं।

सो मनमें चार प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं इसी कारण से मन के भी चार ही भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि जिस समय मन में सत्य संकल्प उत्पन्न होता है तब उस समय सत्यमनःयोग कहाजाता है। जिस समय मन में असत्य संकल्प उत्पन्न होता है तव उस समय असत्य मनःयोग कहा

जाता है फिर जब सत्य और असत्य इस प्रकार के संकल्प उत्पन्न होने लगते हैं तब उस समय मिश्रित मनःयोग कहा जाता है। अपितु जब असत्य अमृषा संकल्प उत्पन्न होने लगता है तब उस समय व्यवहार मनःयोग कहा जाता है।

क्योंकि "असत्यामृषा" उसका नाम है जो वास्तव में असत्य ही होवे परंतु व्यवहार पक्ष में उसे असत्य भी न कहा जा सके। जैसे किसी पथिक ने कहा कि वह "ग्राम आगया" सो इस कथन से यह तो भली भांति सिद्ध हो जाता है कि पथिक ही जा रहा है नतु ग्राम उसके पास आता है। परंतु व्यवहार पक्ष में यह वाक्य कहने में आता ही है कि वह ग्राम आगया है सो इस प्रकार के संकल्पों का नाम "असत्यामृषा" संकल्प कहा जाता है। सो इस प्रकार चार प्रकार के संकल्प मनःयोग के कहे जाते हैं।

जब आत्मा का मन से सम्बन्ध होगया तब उपचारक नय की अपेक्षा से वा परस्पर सम्बंध की अपेक्षा से मन को भी आत्मा कहा जाता है। जिस प्रकार आत्मा का मनसे सम्बन्ध है ठीक उसी प्रकार वचन और काय के सम्बन्ध विषय में भी जानना चाहिये। क्योंकि मनःयोग वचनयोग और काययोग केवल आत्मा के सम्बन्ध से ही कहे जाते हैं।

अतः द्रव्यात्मा को कषायात्मा भी इस नय की अपेक्षा से कहा जाता है।

सो यह कषाय और योग के सम्बन्ध से द्रव्यात्मा का परिणमन जब कषाय और योग के साथ होता है तब आत्मा की कषयात्मा वा योगात्मा संज्ञा बन जाती है।

तथा आत्मा का चेतना लक्षण और उपयोग युक्त है सो इसी न्याय से उपयुक्त होकर शास्त्रकारने ऐसा प्रतिपादन किया है कि:—

जिस समय आत्मा ज्ञान वा दर्शन के उपयोग से उपयुक्त होता है तब उसी समय उस द्रव्यात्मा की उपयोगात्मा संज्ञा होजाती है।

यद्यपि ऐसा कोई भी समय उपस्थित नहीं होता जब कि आत्मा ज्ञान दर्शन के उपयोग से शून्य होजावे तथापि सामान्य अवबोध दर्शन का नाम है और विशेष अवबोध ज्ञान का नाम है। सो द्रव्यात्मा सदैव-काल ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त रहने से आत्मा की उपयोगात्मा संज्ञा बनगई है।

सो उपयोग युक्त होने से उपयोगात्मा कहा जाता है तथा उपयोगात्मा के कथन करने से ज्ञान दर्शन की सक्रिया सिद्ध की गई है। क्योंकि बहुत से आत्मा को मोक्षावस्था में ज्ञान और दर्शन से शून्य मानते हैं सो उनका वह कथन हास्यापद है क्योंकि जब मोक्षावस्था को जीव प्राप्त हुआ तब वह अपनी मूल की भी चेतना खो बैठा?

इससे सिद्ध हुआ कि उक्त मोक्ष से इस आत्माकी सांसारिक अवस्था ही अच्छी थी जिससे वह चेतना युक्त था और सुख वा दुःख का अनुभव करता था।

यदि ऐसा कहाजाय कि "ज्ञाने न ज्ञानी" ज्ञान से ज्ञानी बनता है सो इस कथन से सिद्ध हुआ कि जब ज्ञान का जीव से संयोग हुआ तब ही जीव को ज्ञानी कहागया। सो जब तक आत्मा के साथ ज्ञान का संयोग नहीं हुआथा तब तक आत्मा ज्ञान से शून्य ही मानना पड़ा। अतएव सिद्ध हुआ किः— ज्ञानगुण आत्मा का नहीं है सो मोक्षावस्था में ज्ञानसे शून्य आत्मा का मानना न्याय संमत है क्योंकि ज्ञानसे श्रेष्ट वा निकृष्ट पदार्थों का बोध किया जाता है। जब श्रेष्ठ वा निकृष्ट पदार्थों का बोध हुआ तब आत्मा को राग वा द्वेष में फंसना स्वाभाविक ही है।

अतः इस कारण से आत्मा को ज्ञान शून्य मानना युक्ति युक्त है। सो इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है किः—

ज्ञान को गुण प्रत्येक वादीने स्वीकार किया है सो गुण द्रव्य के आश्रित होता ही है अतः फिर ज्ञानरूप गुण का द्रव्य कौनसा स्वीकार किया जाय? यदि ऐसा कहा जाय किः—ज्ञान पदार्थों से होता है तो इसका यह समाधान है कि वह ज्ञान किसको होता है? क्योंकि पदार्थ दो हैं जैसे कि

जीव और अजीव । यदि जीव को होता है तब जीव चैतन्यता गुण युक्त सिद्ध हुआ सो चैतन्यता ही ज्ञान का नाम है । सो इस कथन से हमारा पक्ष ही सिद्ध होगया । यदि ऐसा कहा जाय कि:—जड़ पदार्थों को ज्ञान होता है तो यह कथन तो प्रत्यक्ष ही विरुद्ध है । यदि ऐसा कहा जाय कि जड़ पदार्थों से ज्ञान होता है तबतो वह उक्त प्रश्न ही फिर उपस्थित हो जाता है कि किस पदार्थ को ज्ञान उत्पन्न होता है ?

अतएव सिद्ध हुआ कि आत्मा को ज्ञान युक्त मानना युक्ति युक्त है । सो इसी की अपेक्षा से द्रव्यात्मा जब ज्ञान और दर्शन के उपयोग संयुक्त होजाता है तब उस आत्मा को उपयोगात्मा कहा जाता है ।

तथा उपयोग की अपेक्षा से ही आत्मा को सर्व व्यापक माना जाता है । क्योंकि उपयोग की अपेक्षा से आत्मा लोकालोक को हस्तामलकवत् जानता और देखता है ।

जिस प्रकार सूर्य एक आकाशवर्ती क्षेत्र में होने पर नियमित रूप से भूमि पर प्रकाश करता हुआ ठहरता है । ठीक उसी प्रकार द्रव्यात्मा एक नियमित क्षेत्र में रहने पर भी उपयोगात्मा द्वारा सर्व व्यापक होजाता है ।

तथा जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य जिस क्षेत्रको भली प्रकार देख या उस क्षेत्र (स्थान) का अनुभव कर चुका है तो फिर

किसी नियमित स्थान पर बैठकर आत्म श्रुति द्वारा उस स्थान को भली प्रकार अपने आत्मा द्वारा देख लेता है।

इतना ही नहीं किंतु किसी नय द्वारा उस आत्मा को उस स्थान में उपयोगात्मा द्वारा यदि व्यापक भी स्वीकार किया जाय तो अत्युक्ति न होगी। सो जिस प्रकार मति-ज्ञान द्वारा पदार्थों का अनुभव किया जाता है ठीक उसी प्रकार जो परम विशुद्ध और विशद (स) केवल ज्ञान है उस के द्वारा तो फिर कहना ही क्या है !!

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि:-—द्रव्यात्मा को ज्ञान और दर्शन तथा उपयोग युक्त मानना युक्तियुक्त सिद्ध होगया। परंतु अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि "ज्ञान का लक्षण या ज्ञान किसे कहते हैं ?" सो इस प्रश्न का समाधान अगले पाठ में किया जायगा।

तृतीय पाठ.

ज्ञानात्मा.

जिस प्रकार द्रव्यात्मा कषायात्मा योगात्मा और उपयोगात्मा का पूर्व पाठ में वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार इस पाठ में ज्ञानात्मा का वर्णन किया जाता है।

प्रश्नः—ज्ञान शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तरः—जिसके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाय उसे ही ज्ञानात्मा कहते हैं।

प्रश्नः—ज्ञान शब्द करण साधन है या अधिकरण साधन है?

उत्तरः—करण साधन भी है और अधिकरण साधन भी है।

प्रश्नः—इस विषय में कोई प्रमाण दो।

उत्तरः—जब ऐसा कहा जाय कि अमुक पदार्थ का स्वरूप ज्ञानसे जाना गया तब तो ज्ञान शब्द को करण-साधन माना जायगा और जब यह माना जाय कि ज्ञान ज्ञायक है वा ज्ञान में पदार्थ ठहरते हैं तब उस समय ज्ञान को अधिकरण साधन माना जायगा।

प्रश्नः—करण को तो साधकतम माना गया है सो करण कर्ता की क्रिया में सहायक होता है किंतु जब कर्ता अपना अभीष्ट क्रिया से निवृत्त होता है तब उसकी सहायता करनेवाला करण भी उस कर्ता से पृथक होजाता है। जिस प्रकार किसी ने इस वाक्य का प्रयोग किया कि यह पुरुष पर्शु से काष्ट (को) भेदता है। सो पुरुष की भेदन क्रिया में पर्शु (कुल्हाड़ा) सहायक है। परंतु जब वह अपनी क्रिया से निवृत्त होता है तब उस पुरुष की क्रिया में सहायक पर्शु भी फिर उस पुरुष से पृथक

होजाता है । सो इसी प्रकार जब ज्ञान को करण साधन माना जायगा तब उसमें भी उक्त ही दोषापत्ति आजायगी । अतएव ज्ञान को करण साधन मानना भी युक्ति युक्त नहीं है ।

इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि:—

ज्ञान को करण साधन मानना युक्तियुक्त है क्योंकि शास्त्रमें करण दो प्रकार से माना गया है जैसे कि:- एक बाह्य करण और द्वितीय अंतरंग करण सो जो बाह्य करण होता है वह तो कर्ता की क्रिया को समाप्ति हो जाने पर कर्ता से पृथक हो ही जाता है जैसे पशु को ही मानलो परंतु जो आभ्यन्तरिक करण होता है वह कर्ता की क्रिया में सहायक बनकर भी कर्ता से पृथक नहीं होता । किसी पुरुषने कहा कि "अमुक पदार्थ मैंनें अपनी आंखों से देखा है" इस वाक्य में आंखें करण बन गई हैं सो वह आंखें पदार्थ के देखे जाने के पश्चात् कर्ता से पृथक नहीं होती तथा किसीने यह कहा कि "मैं अमुक वस्तु को मनसे जानता हूं" सो इस कथन से वस्तु के जानने में मन करण बनगया है परंतु जब वस्तु का बोध होगया तो फिर कर्ता से मन पृथक भी नहीं होसक्ता तथा किसीने कहा कि "ज्ञान से आत्मा जाना जाता है" सो इस कथन से आत्मद्रव्य जानने के लिये ज्ञान करण कथन किया गया है सो जब ज्ञान द्वारा आत्मद्रव्य को जान

लिया तो फिर ज्ञान आत्मा से पृथक नहीं होता। जिस प्रकार किसी ने कहा कि " अमुक पुरुष ने कहा कि अमुक शब्द मैंने अपनी कर्णेन्द्रिय (कानों द्वारा सुना है)" तो क्या फिर शब्द सुनने के पश्चात वह सुनने वाला आत्मा कर्णेन्द्रिय से रहित होजायगा ? कदापि नहीं।

सो उक्त युक्तियों से ज्ञान को करण साधन मानना युक्ति युक्त है तथा इसी प्रकार ज्ञान को अधिकरण मानना भी न्याय संगत है कारण कि ज्ञानसे कोई भी पदार्थ वाहर नहीं है। इस न्याय के आश्रित होकर यह भली भांति से कहा जासक्ता है कि ज्ञान में ही सब पदार्थ ठहरे हुए हैं।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि ज्ञानात्मा मानना युक्तियुक्त सिद्ध है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब आत्मा ज्ञानरूपही है तो फिर परस्पर बुद्धि आदि की विभिन्नता क्यों है ?

इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है कि ज्ञानावरणीय कर्म के कारण से ज्ञान उदय में जीवों की विभिन्नता देखी जाती है जैसे कि:—

कोई मंद बुद्धि वाला है और कोई आशु प्रज्ञावाला है। इसी क्रम से उत्तरोत्तर विषय संभावना कर लेनी चाहिये। क्योंकि असंसारी आत्मा छद्मस्थ और मुक्त आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है।

सो उक्त कारण से ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद वर्णन किये गये हैं जैसे कि:—मति ज्ञानावरणीय १ श्रुत ज्ञानावरणीय

२ अवधि ज्ञानावरणीय ३ मनःपर्यंव [य] ज्ञानावरणीय ४ और केवल ज्ञानावरणीय ५ ।

जव आदि के चार ज्ञान प्रकट होते हैं तव ज्ञानावरणीय कर्म क्षयोपशम भाव में होता है परंतु जव केवल ज्ञान प्रकट होवे तव ज्ञानावरणीय कर्म सर्वथा क्षय होजाता है क्योंकि चार ज्ञान तो क्षयोपशम भाव में प्रतिपादन किये गए हैं और केवलज्ञान क्षायिक भाव में रहता है ।

जव आत्मा के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है तव उसी प्रकार का ज्ञान प्रगट होजाता है जैसे किः—

जव मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होगया तव मतिज्ञान प्रकट हो जाता है जैसे किः–

मतिज्ञान के मुख्य दो भेद कथन किये गए हैं। श्रुत निश्रित और अश्रुत निश्रित। श्रुत निश्रत मतिज्ञान उसका नाम है पदार्थों के विषय को सुनकर जो मति उत्पन्न होती है उसीका नाम श्रुत निश्रित ज्ञान है किन्तु जो विना सुने किसी विषय को फिर उस विषय पर प्रश्न किये जाने पर शीघ्र ही उस विषय का समाधान कर सके उसी का नाम अश्रुत निश्रित मतिज्ञान है ।

यद्यपि यह ज्ञान इंद्रिय और नोइंद्रिय (मन) के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है तथापि मति में विशेष उपयोग

देने पर यह ज्ञान विशदरूप से भासमान होने लगजाता है।

इसी कारण से श्रुत निश्रित मतिज्ञान के मुख्यतया चार भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि:--अवग्रह १ ईहा २ अवाय ३ और धारणा ४ ।

१ **अवग्रहः**--सामान्य बोध का नाम अवग्रह है जिसके मुक्य दो भेद हैं जैसे कि व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। जब श्रुतेन्द्रिय के साथ अव्यक्त रूप से शब्दादि के परमाणुओं का सम्बन्ध होता है उसीका नाम व्यञ्जनावग्रह है परन्तु जब उस शब्द के द्वारा कुछ अव्यक्त रूप से अर्थ की प्रतीति होने लगे तब अर्थावग्रह होता है। जैसे:--कल्पना करो कोई पुरुष शयन किये हुए है तब उस पुरुष को किसी पुरुष ने प्रति-बोध (जगाया) किया तब वह अव्यक्त रूप शब्द को सुनकर केवल 'हुंकार' ही करता है सो उसी समय का नाम अवग्रह है क्योंकि अवग्रह के समय में केवल सामान्य अवबोध ही रहता है सो वह भी अव्यक्त रूप से।

२ **ईहाः**--जब अवग्रह के अनन्तर ईहा का समय आता है तब अवग्रह से विशिष्ट अवबोध ईहा का होजाता है जैसे कि "उसी शब्द पर वह फिर विचार करता है कि यह अमुक शब्द है क्योंकि प्रथम तो केवल शब्द को सुनकर उसने केवल "हुंकार" ही किया था। जब उस शब्द पर कुछ "ईहा" मतिज्ञान का प्रभाव पडा तब उसने यह

शब्द अमुक व्यक्ति का है इस प्रकार के अवग्रह से विशिष्ट ईहारूप ज्ञान को प्राप्त कर लिया।

३ **अवाय**—जब ईहा द्वारा अमुक का शब्द है इस प्रकार का अवबोध हो चुका तब फिर वह अवाय द्वारा निश्चय करता है कि यह शब्द अमुक व्यक्ति का ही है वा यह अमुक पदार्थ ही है अन्यथा नहीं है। इस प्रकार के निश्चयात्मक वाक्य अवाय मतिज्ञान के भेद के होते हैं क्योंकि ईहा के अर्थों का निर्णय अवाय द्वारा ही किया जासकता है। इसलिये मतिज्ञान का तृतीय भेद अवाय रूप वर्णन किया है।

४ **धारणाः**—जब पदार्थों का अवाय द्वारा निर्णय भली प्रकार किया जा चुका तो फिर उस निर्णीत अर्थ की मन से धारणा करनी उसीका नाम धारणा हैं और वह संख्यात काल वा असंख्यात काल की प्रतिपादन कीगई है क्योंकि धारणा का सम्बन्ध आयुष्कर्म के साथ है सो यदि संख्यात काल की आयु है तो धारणा भी संख्यात काल पर्य्यंत रहसकती है। यदि असंख्यात काल की आयु है तो धारणा भी असंख्यात काल की हो सकती है।

अतएव धारणा के दो भेद किये गए हैं तथा अविच्युति १ वासना २ और स्मृति ३ इस प्रकार धारणा के तीन भेद वर्णन किये गए हैं। इनका अर्थ निम्न प्रकार जानना चाहिये।

जैसे कि :—जिस विषय के अर्थ को जान लिया है फिर उस अर्थ के विषय सदैव उपयोग लगे रहना उसीका नाम अविच्युति है ।

स्मृति के हेतुभूत संस्कार का नाम वासना है अर्थात् किसी पदार्थ की स्मृति करने की सदैव वासना लगी रहना तथा उसी प्रकार उपयोग विषय भूतार्थ पदार्थ की कालान्तर में स्मृति होना कि यह वही पदार्थ है सो यह सब श्रुत निश्रित मतिज्ञान के भेद हैं ।

जिस प्रकार श्रुत निश्रित मतिज्ञान के चार भेद वर्णन किये गए हैं ठीक उसी प्रकार अश्रुत निश्रित मति ज्ञान के भी चारों ही भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि:— औत्पातिकी बुद्धि, वैनयिकी बुद्धि कार्मिकी बुद्धि और पारि-णामिकी बुद्धि अर्थात् जिस बुद्धि, द्वारा वादी की तर्क सर्व प्रकार से स्वबुद्धि द्वारा पूर्ण कीजाय उसीका नाम औत्पातिकी बुद्धि है । धर्म, अर्थ, और काम शास्त्र में निपुणता उत्पन्न करने वाली गुरु की विनयसे जो बुद्धि उत्पन्न होजाती है उसीका नाम वैनयिकी बुद्धि है ।

किन्तु जिस कर्म का अधिक अभ्यास किया जाय फिर उसी कर्म में निपुणता भी अधिक बढजाती है इसीलिये इस बुद्धि का नाम कार्मिकी बुद्धि है ।

अथ वा प्रतिज्ञा के हेतु मात्र से साध्य साधिका रूप अवस्था के परिपाक से पुष्टीभूत, अभ्युदय और मोक्ष के देनेवाली जो वुद्धि है उसीका नाम पारिणामिकी बुद्धि कहते हैं।

यद्यपि मतिज्ञान के अनन्त पर्याय हैं तथापि इस स्थान पर यत्किंचित यह विषय वर्णन किया गया है।

यहां पर केवल मतिज्ञान का यही लक्षण सिद्ध करना था। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मति निर्मल होजाती है जिस प्रकार उक्त ज्ञान का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होजाने से श्रुतज्ञान प्रगट होजाता है जैसे कि अक्षर श्रुतादि इस ज्ञान के अनेक भेद प्रतिपादन किये गए हैं।

वैसेही जब किसी गुरु आदि के मुख से कोई तत्व विषय वार्ता सुनी जावे फिर उस वार्ता के तत्व का अपनी निर्मल वुद्धि द्वारा अनुभव किया जाय तब अनुभव द्वारा ठीक निश्चित होजाय सो उसी का नाम श्रुत ज्ञान है।

परंतु स्मृति रखना चाहिये कि एक तो सम्यगश्रुत होता है और एक मिथ्याश्रुत होता है। जब नय वा प्रमाणों द्वारा पदार्थों का ठीक २ स्वरूप सुना जाता है उसे सम्यक्-श्रुत कहा जाता है किंतु जो नया भास और प्रमाणाभास द्वारा पदार्थों का स्वरूप सुना जाता है वही मिथ्याश्रुत

होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष आत्मा के कर्तापन को देखकर उसे तो अकर्ता स्वीकार करना किंतु जो सर्व प्रमाणों से अकर्ता सिद्ध होता है उसे कर्ता मान लेना जैसे कि ईश्वर जगत् कर्ता किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता उसे तो कर्ता सिद्ध करना परंच जो आत्मा प्रत्यक्ष में क्रिया-कर्ता सिद्ध है उसे अकर्ता मानना यही मिथ्याश्रुत का लक्षण है।

तथा जिस श्रुत से धर्म और मोक्ष का फल तो उपलब्ध न होवे किंतु अर्थ और काम की सर्वथा सिद्धि की जावे इसका नाम भी मिथ्याश्रुत है क्योंकि मिथ्याश्रुत से संसार-चक्र में परिभ्रमण की वृद्धि हो जाती है और सम्यक्श्रुत से आत्मा संसारचक्र से पार होने का उपाय ढूंढता है।

तथा संसार की सर्व क्रियाएं मतिज्ञान श्रुतज्ञान वा मतिअज्ञान वा श्रुतअज्ञान के आधार पर चल रही हैं।

अतएव प्रत्येक आत्मा उक्त ज्ञान वा अज्ञान से संयुक्त है।

जब अवधिज्ञानावरणीय कर्म क्षयोपशम होता है तब आत्मा अवधिज्ञान युक्त होजाता है किंतु यह ज्ञान मनकी सहायता से कार्य साधक होता है इसीलिये यह रूपी द्रव्यों के देखने की शक्ति रखता है क्योंकिः—

अवधिज्ञान में रूपी द्रव्य इसीलिये अधिगत होते हैं कि यह ज्ञान मन की सहायता से अपने कार्य की सिद्धि

करता है। इसीलिये इसे प्रमाण पूर्वक रूपी द्रव्यों के जानने वा देखने वाला अवधिज्ञान कहा जाता है।

परंतु जब मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म क्षयोपशम हो जाता है तब आत्मा को मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हो जाता है। इस ज्ञान के द्वारा आत्मा मनोगत द्रव्यों के जानने की शक्ति रखता है। अर्थात् मनुष्यक्षेत्रवर्ती यावन्मात्र संज्ञी (मनवाले) पंचेन्द्रिय जीव हैं उनके मनके जो पर्याय हैं उनके जानने की शक्ति इसी ज्ञान को होती है। यद्यपि इस ज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकार के दो भेद प्रतिपादन किये गए हैं तथापि उनका मुख्य उद्देश सामान्य बोध वा विशेष बोध ही है तथा ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति पदार्थों के स्वरूप को विशद रूप से जानता वा देखता है। वास्ते ये चारों ही ज्ञान क्षयोपशम भाव के भावों पर ही अवलंबित है। परंतु जब आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अंतराय इन चारों ही कर्मों को क्षय करता है तथा क्षायिक भाव में प्रविष्ट होता है तब उस आत्मा को सर्व प्रत्यक्ष केवलज्ञान की प्राप्ति होजाती है जिससे फिर वह केवली आत्मा सर्व भावों को हस्तामलकवत् जानने और देखने लग जाता है।

परंतु केवली भगवान् दो प्रकार से वर्णन किये गए हैं। जैसे कि एक भवस्थ (जीवन युक्त) और दूसरे सिद्धस्थ सो

जीवनमुक्त केवली भगवान् हैं। उनके शुभ नाम अर्हन्, पारगत, जिन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग इत्यादि नाम कहे जाते हैं। वे सदैवकाल अपने सत्योपदेश द्वारा भव्य जीवों पर परोपकार करते रहते हैं।

उनके अमृत मय उपदेशों से लाखों प्राणी अपना उद्धार करलेते हैं किंतु वे आयुष्यकर्म, वेदनीय कर्म, नामकर्म और गोत्र कर्म इन चारकर्मों से संयुक्त होते हैं।

परंतु जो सिद्धभगवान हैं वे सर्वथा कर्मों के बंधनों से विमुक्त हैं। उनका आत्मा कर्म कलंक से रहित होने से सर्वज्ञ वा सर्वदर्शी अनंत शक्ति वाला होता है। वे सदैव आत्मिक सुख का अनुभव करते रहते हैं। वे ज्ञानात्मा से सर्व व्यापक माने जाते हैं, उनक शुभ नाम अनंत हैं और उन्हीं को ईश्वर, परमात्मा, अजर, अमर, सिद्ध वा बुद्ध, पारगंत वा परम्परागत ज्योतिस्वरूप इत्यादि नामों से कहा जाता है। वे भव्य प्राणियों के शरण भूत हैं।

इस प्रकार उक्त पांचों ज्ञानों की अपेक्षा से द्रव्यात्मा को ज्ञानात्मा भी कहते है।

जिन लोगोंने द्रव्यात्मा को ही सर्व व्यापक मान लिया है उनका मत सत् युक्तियों से खंडित होजाता है क्योंकि जब द्रव्यात्मा ही सर्व अपने अवयवों से व्यापक हो जायगा

तो फिर अन्य आत्मा कहांपर स्थिति करेंगे ?- अतएव ज्ञान द्वारा सर्व व्यापक मानना युक्ति संपन्न है। जिस प्रकार सूर्य-मंडल आकाश पर स्थित होनेपर भी अपने परिमित क्षेत्र को प्रकाशित करता है ठीक उसी प्रकार अजर अमर आत्मा लोकाग्र भाग में स्थित होने पर भी अपने परिमित वा अपरिमित क्षेत्र को प्रकाशित कर रहा है।

वैसेही वह अकायिक होने पर भी रूपी वा अरूपी सर्व द्रव्यों के भावों को हस्तामलकवत जानता और देखता है सो उक्त कथन से द्रव्यात्मा को ज्ञानात्मा मानना युक्ति युक्त सिद्ध हुआ अतएव द्रव्यात्मा को हम ज्ञानात्मा भी कह सकते हैं।

चतुर्थ पाठ।

दर्शनात्मा।

जिस प्रकार नदी को पार करने के लिये नावकी आवश्यकता होती है तथा जिस प्रकार पदार्थों के देखने के लिये आंखों की आवश्यकता होती है वा जिस प्रकार सुख अनुभव करने के लिये पुण्य कर्म की आवश्यकता होती है तथा जिस प्रकार बोध प्राप्त करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है वा जिस प्रकार विद्या प्राप्ति के लिये गुरु की भक्ती की आवश्यक्ता है तथा यशोकीर्त्ति संपादन करने के लिये

सदाचार और सद्प्रतिभा की आवश्यकता है ठीक उसी प्रकार संसारचक्र से पार होने के लिये दर्शन [विश्वास] की आवश्यकता है।

कारण कि जब सांसारिक कार्य भी विना विश्वास सम्यग्-तया नहीं किये जा सकते तो भला फिर मोक्ष की साधन वाली क्रियाएं विना दृढ विश्वास के कैसे की जासकती हैं !

अतएव सिद्ध हुआ कि धर्म क्रियाओं के करते समय विश्वास की अत्यंत आवश्यकता है। क्योंकि जब आत्मा किसी निर्णीत पदार्थ पर पूर्ण दृढता धारण कर लेता है तब वह उसकी प्राप्ति के लिये सर्व प्रकार से उद्योग करने में प्रयत्नशील वन जाता है।

जैसे कि कल्पना करो कि जब आत्मतत्त्व का निर्णय हो गया तब वह उसके कर्मोंके बंधन से मुक्त होने के लिये प्रयत्न-शील होता है क्योंकि उसका प्रयत्न केवल आत्म शुद्धि करने का ही होता है जिसका अंतिम परिणाम निर्वाण पद की प्राप्ति होना है। अतःसिद्ध हुआ कि विना निश्चय वा विना विश्वास किये किसी भी अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि नहीं होती।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब विश्वास पर ही फल की निर्भरता है तो फिर बालु में जल बुद्धि रखने

वाला मृग मृत्यु की शरण गत क्यों होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सक्ता है कि:—

विश्वास भी तीन प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि, १ सम्यग् विश्वास २ मिथ्या विश्वास ३ मिश्रित विश्वास। इनका तात्पर्य इस प्रकार जानना चाहिये।

१ सम्यग् विश्वास :—जिस प्रकार के पदार्थ हो उसी प्रकार का उनका ज्ञान प्राप्त किये जाने पर फिर तद्वत् ही उन्हों पर विश्वास किया जाय इसी का नाम सम्यग् विश्वास है। जैसे कि:—जीव को जीव ही जानना जड को जड ही मानना तथा सांसारिक पदार्थों के विषय में भी यथार्थ बुद्धि का धारण करना उसी का नाम यथार्थ विश्वास है। फिर उसी का परिणाम भी विश्वास के तुल्य ही प्राप्त होता है। जैसे कि:—जब रुपये को रुपया ही मानता है तब उसका फल भी उसके समान ही उसको मिल जाता है। परंतु यदि वह रुपये को सुवर्ण मुद्रा मानने लगजाय इतना ही नहीं पर वह अपना दृढ विश्वास भी करलेवे परंच जब व्यापारादि क्रिया में वह पुरुष प्रयत्न शील होकर उस रुपये को सुवर्ण मुद्रा के रूप में प्रयत्नशील होगा तो वह कदापि सफल मनोरथ नहीं बन सकेगा क्योंकि उसका प्रयत्न यथार्थ नहीं है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि सम्यग् पदार्थों पर सम्यग् ही विश्वास किया जाय तबही फलीभूत कार्य हो सक्ता है।

२ **मिथ्या विश्वास**—जिस प्रकार के पदार्थ हों उन पदार्थों से विपरीत निश्चय धारण करना उसी का नाम मिथ्या विश्वास है जैसे कि कल्पना करो कि जीव को अजीव मानना तथा आत्मा को अकर्ता और परमात्मा को कर्ता इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिये क्योंकि मिथ्या विश्वास इसी का नाम है कि यथार्थ निश्चय का न होना।

कल्पना करो कि कोई व्यक्ति माता, भगिनी, पुत्री तथा भार्या को एकरूप से देखता है। सो यह मिथ्या विश्वास है। तथा ईश्वर में कर्तृत्व विश्वास धारण कर लेना वा एक आत्मा को ही सर्व व्यापक मान लेना, नास्तिक बन जाना इत्यादि ये सब मिथ्या विश्वास कहलाते हैं। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि विश्वास का होना अत्यंत आवश्यकीय है परंतु यदि सम्यग् विश्वास होगा तो वह कार्य की सिद्धि में एक प्रकार साधकतम करण बन जायगा। यदि मिथ्या विश्वास होगा तो वह कार्य सिद्धिमें विघ्न के रूप में उपस्थित बन पडेगा।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि मिथ्या विश्वास कदापि धारण न करना चाहिये।

३ **मिश्रित विश्वासः**—सब पदार्थों को एक समान ही जानना, सत्य और असत्य का निर्णय न करना, चाहे साधु हो वा असाधु, श्रेष्ठ या निकृष्ट, भद्र हो या कुटिल, धर्म हो वा अधर्म, पुण्य की क्रिया हो या पाप की, धर्मोत्सव

हो या पाखंडोत्तत्व सबको एक समान ही जानना उसी का नाम मिश्रित विश्वास है। इस विश्वास के द्वारा प्राणी अपने कल्याण करने में असमर्थ होता है तथा न्याय करने में भी इस प्रकृति वाला आत्मा अपनी अयोग्यता सिद्ध करता है कारण कि वह सबको एक समान ही जानता है। अतएव सम्यग् दर्शन प्रत्येक मुमुक्षु आत्माओं को धारण करलेना चाहिये।

जिस प्रकार संक्षेप रूप से उक्त तीनों दर्शनों का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार सामान्य अवबोध की अपेक्षा से चार दर्शनों का विस्तार निम्न प्रकार से किया गया है। जैसे कि:—

१ **चक्षुदर्शनः**—जब आंखों से किसी पदार्थ को देखा जाता है तब प्रथम सामान्य अवबोध होता है जैसे कि क्या यह अमुक पदार्थ है?

इस प्रकार से जो पदार्थों के देखने से बोध पैदा होता है उसी का नाम चक्षुदर्शन है।

दर्शन इसे इसलिये कहा गया है कि जब सामान्य बोध होगया तदनु फिर उसी पदार्थ का विशेष बोध हो जाता है। फिर उसी पदार्थ को ज्ञान द्वारा निर्णीत किये जाने पर विशेष

बोध के नामसे कहा जाता है। जिसे फिर वह पदार्थ ज्ञान के उपयोग में आजानेसे साकारोपयोग में आजाता है।

२ **अचक्षुदर्शनः**—आंखों के विना चारों इंद्रियों द्वारा या मन के द्वारा जिन २ पदार्थों का निर्णय विना किये सामान्य बोध होता है उसे ही अचक्षुदर्शन कहते हैं। जैसे कि यह किसका शब्द है? आदि।

इसी प्रकार जब घ्राणेंद्रिय में किसी गंध के परमाणुओं का प्रवेश होता है तब उसीके विषय में भी प्राग्वत् जानना चाहिये।

तथा जब रसनेंद्रिय में पुद्गल प्रविष्ट होते हैं तब भी पहिले उनका सामान्य बोध ही होता है। इसी प्रकार जब स्पर्शेंद्रिय में पुद्गलों का स्पर्श होता है तब भी उस स्पर्श द्वारा शीत या उष्णादि स्पर्शों का सामान्य बोध ही होता है।

सो इस प्रकार के बोध का नाम सामान्य बोध है। तथा जब कोई स्वप्न आता है तब प्रतिबोध हो जाने पर उस पर विचार किया जाता है कि मुझे क्या यही स्वप्न आया है या अमुक? इस प्रकार के बोध को नोइंद्रियदर्शन कहा जाता है तथा ये सब भेद अचक्षुदर्शन के ही हैं।

अवधिदर्शन :— जब अवधिदर्शनावरणीय कर्म क्षयोपशम हो जाता है तब अवधिदर्शन प्रकट होता है।

अर्थात् वह अपने अंतरंग भावों से रूपी पदार्थों के देखने की शक्ति उत्पादन करलेता है। जब वह आत्मीय उपयोग द्वारा सामान्य प्रकार से पदार्थों को देखता है उस समय उसे अवधि-दर्शनी कहा जाता है।

कारण कि आत्मशक्ति द्वारा सामान्य प्रकार से पदार्थों के स्वरूप को देखना यही अवधिदर्शन का मुख्य लक्षण है।

इस क्रिया के करते समय मनकी सहायता आत्मा को अवश्य लेनी पडती है। इसी कारण से अवधिदर्शन द्वारा आत्मा, रूपी पदार्थों के देखने की शक्ति रखता है क्योंकि मन, रूपी पदार्थ है अतएव वह रूपी पदार्थों को ही देख सकता है।

४ **केवलदर्शनः**—जब ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय कर्म, ये चारों कर्म क्षय होजाते हैं तब आत्मा को केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट होजाता है।

इसके कारण से अनंतज्ञान, अनतदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और अनंत शक्ति यह निजकीय चारों गुण आत्मा में प्रगट होते हैं इसी कारण से फिर उसके आत्मा को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी वा अनंत शक्तिवाला कहा जाता है।

परंतु जहां पर केवल वर्णन इस बातका है कि केवल-दर्शन द्वारा पदार्थों का सामान्य रूप से स्वरूप जाना जाता है तब उस समय आत्मा में केवलदर्शन होता है तथा इन्हीं दर्शनों द्वारा आत्मा को दर्शनात्मा कहा जाता है।

क्योंकि जब आत्मा उक्त दर्शनों से युक्त होता है तब उसकी दर्शनात्मा संज्ञा बन जाती है।

यदि ऐसा कहा जाय कि जब ज्ञान ही आत्मा में प्रकट होगया तो फिर दर्शन के मानने की क्या आवश्यक्ता है? इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि:—ज्ञान से पूर्व दर्शन अवश्यमेव होता है तदनु ज्ञान होता है इसलिये दर्शन के मानने की अत्यन्त आवश्यक्ता है। तथा जबतक सम्यग् (यथार्थ) विश्वास (दर्शन) किसी पदार्थ पर है ही नहीं तब तक उस पदार्थ का ज्ञान भी यथार्थ नहीं कहा जासक्ता। अतएव दर्शन का होना सर्व प्रकार से अत्यंत आवश्यकता रखता है।

यदि ऐसा कहा जाय कि प्रत्येक मत अपने २ दर्शन में दृढ है तो फिर क्या उनको दर्शनी न कहा जाय?

इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है कि प्रत्येक मत को दर्शनी तो कहा जा सक्ता है परंतु उक्त तीन प्रकार के जो दर्शन कथन किये गए हैं उन तीनों में सम्यग्दर्शन ही अपनी प्रधानता रखता है नतु अन्य।

क्योंकि मुक्ति की सिद्धि में सम्यग्दर्शन ही क्रिया साधक बनता है नतु अन्य दर्शन।

इसलिये सिद्धांतवादियों ने लिखा है कि चारित्रहीन तो कदाचित मुक्ति की प्राप्ति भी करले परंतु दर्शन हीन का तो कभीमोक्ष गामी हो ही नहीं सक्ता।

सो उक्त ही कारणों से दर्शन की अपेक्षा से द्रव्यात्मा को दर्शनात्मा भी कहा जा सक्ता है।

साथ में यह भी कहना अनुचित न होगा कि सम्यग-दर्शन के लिये अर्हत प्रणीत शास्त्रों की अवश्यमेव स्वाध्याय करना चाहिये।

पाठ पांचवाँ।

चारित्रात्मा।

जिस प्रकार दर्शनात्मा विषय वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार चारित्रात्मा विषय वर्णन किया जाता है।

आत्मा की रक्षा करने वाला और सुगति मार्ग को दिखलाने वाला लोक और परलोक में यश उत्पादन करने वाली आत्मा की एक मात्र अंतरंग लक्ष्मी सदाचार ही है।

जिन आत्माओंने सदाचार से मुख मोड़लिया है वे नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कर रहे हैं।

कारण कि सदाचार के बिना मनुष्य का जीवन निरर्थक माना जाता है क्योंकि वह अपने जीवन का सर्वस्व खो बैठता है। जिस प्रकार तिलों से तैल के निकल जाने पर शेष खली रह जाती है तथा दधि से माखन (नवनीत) के निकल जाने पर फिर तुच्छ रूप तक्र छास (छा) रह जाती है या इक्षु रस के निकल जाने पर फिर इक्षु का तुच्छ फोक रह जाता है या उदन (चावलों के निकल जाने पर फिर केवल तुष रह जाता है ठीक उसी प्रकार सदाचार के न रहने से शेष जीवन भी निरर्थक रह जाता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सदाचार किसे कहते हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि जिन क्रियाओं के करने से आत्मा अपने निज स्वरूप में प्रविष्ट होजाय उसीका नाम सदाचार या चारित्र है क्योंकि आत्माका अनादि काल से कर्मों का संग होने से नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कर रहा है परंतु जब यह आत्मा कर्ममल से विमुक्त होता है तब ही यह आत्मा अपने निज स्वरूप में प्रविष्ट हो सक्ता है।

सो उस स्वरूप मे प्रविष्ट होने के लिये सर्वव्रत और देशव्रत इस प्रकार के दो प्रकार से चारित्र का वर्णन किया गया है जैसे कि:—

सर्वव्रत चारित्र उसका नाम है जिसके द्वारा सर्व प्रकार से कर्मों का आना बंद किया जाय। जिस प्रकार सरोवर के पांच नालों (मार्गों) स पानी आता रहता है और जब वह जल आने के मार्ग निरोध किये जायँ तब वह जल आना बंद होजाता है। ठीक उसी प्रकार आत्मा रूपी सरोवर में कर्म रूपी जल आता रहता है। जब उन मार्गों का निरोध किया जाय तब वह कर्म रूपी जल आना बंद होजाता है और फिर पूर्व कर्म रूप जल ध्यान, तपादि द्वारा सुखा दिया जाता है जिससे आत्मा फिर विशुद्धि को प्राप्त होजाता है। परंतु वे क्रियाएं भली प्रकार से यदि की जायँ तो, जैसे किः—

१ सर्व प्रकार से प्राणातिपात का परित्यागः—अर्थात सूक्ष्म या स्थूल अपने लिये या परके लिये अथवा दोनों के लिये किसी प्रकार से भी जीव की हिंसा न की जाय।

साथ ही मन से, वाणी से वा काया से न स्वयं हिंसा की जाय न औरों से करवाई जाय तथा जो हिंसा करते हैं उनकी अनुमोदना भी न कीजाय क्योंकि यह बात स्वाभाविक मानी जाती है कि जब किसी प्राणी का किसी प्राणी से वैर ही न रहा तो भला फिर उसे समाधि की प्राप्ति क्यों न हो जावे ? अर्थात् फिर उस आत्मा को समाधि अवश्यमेव आजाती है।

अतएव प्राणी मात्र से मित्रता धारण करने के लिये प्रथम उक्त व्रत के आश्रित हो जाना चाहिये। सर्व प्रकार से

मृषावाद का परित्यागः—सर्व प्रकार से असत्य भाषण न करना चाहे मरणांतिक कष्ट क्यों न उपस्थित होजाय परंतु अपने मुख से कदापि असत्य वचन का प्रयोग न करना।

कारण कि असत्य वादी पुरुष अविश्वसनीय बन जाता है अतः वह फिर धर्म के भी अयोग्य होता है क्योंकि धर्म का मुख्य उद्देश सत्य पदार्थों का वर्णन करना है। उसका उद्देश सत्य के छिपाने का होता है अतएव धर्म के अयोग्य ही कथन किया गया है। जो सत्य के माहात्म्य को समझते हुए असत्य वचन का प्रयोग कदापि न करना चाहिये।

अदत्त का परित्यागः—साधुवृत्ति के योग्य जो ग्राह्य पदार्थ भी हैं उनको भी विना आज्ञा न उठाना जैसे किः—कल्पना करो कि साधु को किसी तृण के उठाने की आवश्यकता हुई है तो उसको योग्य है कि वह तृण भी किसी की विना आज्ञा न उठावे। चौर्य कार्य का जो अंतिम परिणाम होता है वह लोगों के सन्मुख ही है। कारागृहादि सब अन्याय करने वालों के लिये ही बने हुए होते हैं फिर उन स्थानों में उनकी जो गति होती है उससे भी लोग अपरिचित नहीं हैं। अतएव सिद्ध हुआ कि चौर्य्य कर्म कदापि न करना चाहिये। सर्व प्रकार से मैथुन कर्म का परित्यागः—सर्व प्रकार से मैथुन कर्म का परित्याग करना अर्थात् ब्रह्मचारी बनना कारण कि शारीरिक वा आत्म शक्ति इस नियम पर ही निर्भर है। परंतु जो पुरुष ब्रह्मचर्य के आश्रित नहीं होते

वे अपमृत्यु, रोग और शोकादि संयुक्त सदैव रहा करते हैं। उनके शरीर की कांति वा आत्मवल सर्वथा निर्वल पड जाता है। अतएव अपने कल्याण के लिये इस व्रत के आश्रित होकर अपने अभीष्ट की सिद्धि करनी चाहिये क्योंकि यावन्मात्र स्वाध्याय या ध्यानादि तप हैं वे सव इस की स्थिरता में ही स्थिर या कार्य साधक वन सकते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्मचर्य अवश्यमेव धारण करना चाहिये।

सर्व प्रकार से परिग्रह का परित्याग करना:—धर्मोपकरण को छोडकर और किसी प्रकार का भी संचय न करना तथा संसार में यावन्मात्र क्लेश उत्पन्न हो रहे हैं उनमें प्रायः मुख्य कारण परिग्रह का ही होता है क्योंकि ये सव धनादि क्लेश के कारणी भूत कथन किये गए हैं। इसके कारण से सम्बन्धियों का सम्वन्ध छूट जाता है परस्पर मृत्यु के कारण से विशेष दुःखों का अनुभव करते हैं अतएव महर्षि परिग्रह के बंधन से सर्वथा विमुक्त रहे।

सर्व प्रकार से रात्रि भोजन का परित्याग करना:— जीव रक्षा के लिये या आत्म समाधि या तप कर्म के लिये रात्रि भोजन भी न करना चाहिये। कारण कि प्रथम तो रात्रि भोजन करने से प्रथम व्रत का सर्वथा पालन हो ही नहीं सक्ता। द्वितीय समाधि आदि क्रियाओं के करते समय ठीक पाचन न होने से रात्रि भोजन एक प्रकार का विघ्न उपस्थित कर देता है।

तथा लौकिक में यावन्मात्र शुभ कृत्य माने जाते हैं वे भी रात्रि को नहीं किये जाते जैसे श्राद्धादि कृत्य । अतएव रात्रि भोजन से सदैव काल निवृत्ति करनी चाहिये ।

तदनु अपना पवित्र समय ज्ञान या ध्यान में ही व्यतीत करना चाहिये. क्योंकि शुक्लध्यान द्वारा अनंत जन्मों के संचय किये हुए कर्म अत्यंत स्वल्प काल में ही क्षय किये जा सके हैं ।

सर्व व्रतिरूप धर्म में सर्व प्रकार की क्रियाओं का निषेध किया जाता है । जिससे शीघ्र ही मोक्ष उपलब्ध हो जाता है । इस प्रकार की क्रियाओं के करने से उसे चारित्रात्मा कहाजाता है क्योंकि यह व्यवहारिक में भी सु-प्रसिद्ध है कि अमुक सदाचारी आत्मा है और कदाचारी (दुराचारी) आत्मा है ।

जब सर्ववृत्ति का कथन किया गया है तो इस कथन से स्वतः ही सिद्ध होजाता है कि देशव्रत्ती का भी कथन होना चाहिये ।

जिस प्रकार सर्वव्रत का कथन सूत्रों में किया गया है ठीक उसी प्रकार प्रसंगवश से देशव्रत का भी कथन किया गया है । जैसे कि:—जब कोई आत्मा गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहे तब उसको तीन बातों का अवश्यमेव ध्यान करना

चाहिये जैसे किः—आहार १ आचार २ और व्यवहार ३ जिनका संक्षेप से नीचे वर्णन किया जाता है।

१ **आहार शुद्धिः**—सद्‌गृहस्थ को योग्य है कि वह अपने आहार में विशेषतया सावधानी रक्खें क्योंकि आहार के सूक्ष्म परमाणु रस रूप परिणत होते हुए पांचों इंद्रियों जैसे कि श्रुतेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेंद्रिय तथा मन, वचन काया या श्वासोश्वास वा आयुष्कर्म पर अपना प्रभाव डालते हैं। यदि सतोगुणी भोजन किया गया है तब उक्त प्राणों को वे परमाणु शान्त रस के प्रदान करने वाले बनजाते हैं। जिस प्रकार उष्णता से पीडित पुरुष ने जब स्नान कर लिया तब जल के परमाणु उसको शांत रस प्रदान करने वाले बनजाते हैं। यदि उसने अपनी उक्त ही दशा में मदिरा पान ही कर लिया तब वे परमाणु तमोगुण के उत्पादन करने वाले बन जाते हैं जिससे किसी २ समय में तो किसी २ पुरुष को अपने उक्त कथन किये गए १० प्राणों से ही हाथ धोने पडते हैं।

अतएव शरीर रक्षा के लिये भोजन विना सावधानी से न होना चाहिये और साथ ही तमोगुणी भोजन वा रजोगुणी भोजन सद्‌गृहस्थ को कदापि सेवन न करना चाहिये।

कारण कि तमोगुणी भोजन से वा रजोगुणी भोजन से आत्मा सद्‌गुणों से विमुक्त होता हुआ विकार भाव को

प्राप्त हो जाता है। जिससे उसकी पाप वृत्तियां विशेप बढ जाती हैं। जैसे कि क्रोध मान माया और लोभ, राग द्वेष, क्लेश, निंदा, चुगली और छल, झूंट इत्यादि वृत्तियों के बढ जाने से फिर वह जीव अपनी उन्नति के स्थानपर अवनति कर बैठता है।

अतएव तमोगुणी या रजोगुणी भोजन सद्गृहस्थों को कदापि न करना चाहिये।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सतोगुणी वा रजोगुणी या तमोगुणी भोजन की परिक्षा क्या है? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि स्वच्छ, शुद्ध और मन या इंद्रियों को प्रसन्न करने वाला प्रायः स्निग्ध और उष्ण गुणों से युक्त जैसे मर्यादानुकूल और शीघ्र पाचक गुणवाला वा घृतादि का सेवन है इसे सतोगुणी भोजन कहा जाता है। परंतु चलित रस अस्वच्छ और अशुद्ध, अत्यंत तीक्ष्णादि गुणों से युक्त वा शीत रूक्षादि गुणों से युक्त इत्यादि भोजन तमोगुणी होता है। दोनों की मध्यम वृत्ति वाला भोजन रजोगुणी होता है। इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि जिस प्रकार प्रायः असत्पुरुष दूसरे की निंदा और चुगली आदि क्रियाओं के करने से बडे प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार रजोगुणी भोजन वा तमोगुणी भोजन करते समय तो बडा प्रिय लगता है परंतु जिस प्रकार निंदादि क्रियाओं का अंतिम फल दुःख-प्रद ही निकलता है ठीक उसी प्रकार तमोगुणी वा

रजोगुणी आदि भोजन करने का फल भी रस विकार होने से सुख–प्रद नहीं होता।

अतएव सद्ग्रहस्थों को उक्त प्रकार के भोजनों से सदैव बचना चाहिये और साथ ही जो मादक द्रव्य हैं उनका भी सेवन न करना चाहिये जैसे कि मदिरा-पान, अफीम, भांग, चरस, सुल्फा, गांजा, तमाखू, सिगरेट इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थों के सेवन से बुद्धि में विप्लव पैदा होता है और सदाचार की दशा बिगड़ती हो तो इस प्रकार के पदार्थों को कदापि सेवन न करने चाहिये।

२ आचार शुद्धिः—जब आहार की शुद्धि भली प्रकार से होजाय तो फिर आचरण की शुद्धि भी भली प्रकार की जासक्ती है जैसे किः–आचरण शुद्धि में प्रथम सात व्यसनों का परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि उनके सेवन से परम कष्ट और धर्म से पराङ्मुख होना पडता है। जिस प्रकार सांप से कौतुहल या उपहासादि किया हुआ कभी भी सुख-प्रद नहीं होता, ठीक उसी प्रकार सात व्यसन सेवन किये हुए सुखप्रद नहीं होते।

तथा जिस प्रकार सम्राट का अविनय किया हुआ शीघ्र ही अशुभ फल देने में उपस्थित होजाता है ठीक उसी प्रकार सात व्यसन भी सेवन किये हुए शीघ्र ही विपत्तियों का मुंह दिखलाते हैं। अतः सद्गृहस्थ इन्हें कदापि सेवन न करें।

उनके नाम ये हैं जैसे कि:—जुआं, मांस, मदिरा, आखेट कर्म (शिकार) वैश्या संग, परस्त्री सेवन और चौर्य्य कर्म। इनका फल प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो ही रहा है। अतएव इनका सविस्तृत स्वरूप नहीं लिखा, किंतु इतना हम लिख देना उचित समझते हैं कि प्रथम व्यसन के अन्तर्गत (सट्टाभी है) सब ही व्यसन आजाते हैं। जो इस व्यसन में पड़गए हैं वे भी प्रायः अपनी स्वकीय लक्ष्मी को खोकर निर्धन दशा को प्राप्त होगए हैं जिससे वे नाना प्रकार के कष्टों का अब मुंह देख रहे हैं।

यदि कल्पना भी करलो कि कोई व्यक्ति उक्त क्रिया से कुछ समय के लिये लक्ष्मीपति बन भी गया तो उसकी वह विभूति चिरस्थायी नहीं रह सक्ती। जिस प्रकार यदि थोडी २ बूंदें किसी खेत (क्षेत्र) में पडती हों तो वे बूंदें खेती की वृद्धि में अमृत के समान काम करती हैं किंतु यदि उसी खेत में परिमाण से अधिक वर्षा पडती हो और साथ ही किसी नदी की वर्षा अधिक होने के कारण से बाढ आजाय तो वह बाढ खेती का नाश करती हुई जो उस खेत में कोई अन्य जाति के वृक्ष हों तो उनको भी हानि पहुंचाती है।

तथा यदि वही बाढ नगर की ओर आजाय तो नागरिक लोग परम दुःखित होते हैं और उस बाढ के द्वारा नागरिक लोगों के प्रासादि (घर) स्थान, धन और माल सब अव्य-वस्थित होजाता है। इतना ही नहीं किंतु खांडादि पदार्थों में जल प्रवेश किया हुआ बहुत सी हानि करजाता है।

सो जिस प्रकार अधिक वर्षा या बाढ के कारण से लोग दुःखों से पीडित होजाते हैं ठीक उसी प्रकार सट्टा आदि के व्यापार में लक्ष्मी की वृद्धि की यही दशा होती है।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि खेत में पडी हुई बूंदों के समान थोडा भी व्यापार लक्ष्मी की वृद्धि कर देता है किंतु बाढ के समान कार्य करनेवाले सट्टादि के द्वारा लक्ष्मी की वृद्धि की इच्छा कभी भी न करनी चाहिये।

क्योंकि उसकी वृद्धि का फल उक्त दृष्टांत द्वारा विचार सक्तेहैं। तथा इस बात को भली प्रकार विचार सक्ते हैं कि जब आचार शुद्धि भली प्रकार से हो जायगी तब फिर व्यवहार (व्यापार) शुद्धि भी की जासकेगी।

क्योंकि व्यापार शुद्धि के मूल कारणीभूत आहार शुद्धि वा आचार शुद्धि कथन की गई है:—

व्यापार-शुद्धिः—व्यापार-शुद्धि का सम्बन्ध प्रथम दोनों शुद्धियों के साथ हैं और उक्त दोनों शुद्धियों का संबंध व्यापार शुद्धि के साथ है। अतः इन तीनों का परस्पर आश्रय सम्बन्ध है सो जिस व्यापार से महत् कर्मों का बंध पडता हो और वह व्यापार अनार्य भावों की सीमा तक पहुंचता हो वह व्यापार सद्गृहस्थ को कदापि न करना चाहिये।

क्योंकि जब यह शरीर ही क्षण विनश्वर है तो भला फिर क्यों इसकी रक्षा के लिये अयोग्य व्यापार द्वारा इसकी पोषणा कीजाय?

सो आर्य व्यापारों द्वारा भी इसकी भली प्रकार से रक्षा की जा सकती है। अब प्रश्न इसमें यह उपस्थित होता है कि वे अनार्य व्यापार कौन कौन से हैं जिनसे बचने का उपाय किया जाय। इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहा जा सक्ता है कि इस प्रकार के अनेक व्यापार हैं जैसे कि:—मांस का बेचना, मदिरा का बेचना, मादक द्रव्योंका बेचना, चमड़े का व्यापार करना, दांतों का व्यापार करना, दांतों के आभूषण बनाकर बेचना, कन्या विक्रय करना, विश्वासघात करना, इत्यादि अनेक प्रकार के व्यापार हैं जो गृहस्थोंके लिये करने अयोग्य हैं। इनका पूर्ण विवरण इसी पुस्तक के चतुर्थ भाग में प्रतिपादन किये हुए श्रावक के १२ व्रतों का स्वरूप भली प्रकार जानना चाहिये और उन्हीं व्रतों के अन्तर्गत सातवां जो उपभोग परिभोग व्रत है उसे सावधानी से पढ़ना चाहिये।

क्योंकि उसी व्रत में आहारशुद्धि और व्यापारशुद्धि का भली भांति वर्णन किया गया है। १५ कर्मादान का गृहस्थों के लिये निषेध किया गया है।

साथमें यह भी विचार अन्तःकरण में उत्पादन करना चाहिये कि जो लक्ष्मी अन्याय से वृद्धि पाति है उसकी स्थिरता चिरस्थायी नहीं होती और न उसका प्रकाश चिरस्थायी होता है जैसे कि; जब दीपक शांत होने को आता

है तब वह पहिले ही डावांडोल होने लग जाता है किंतु जब वह बुझने लगता है तब बुझने से पहिले एक वार तो प्रकाश भली प्रकार कर देता है तदनु शांत होजाता है।

ठीक इसी प्रकार जो लक्ष्मी अन्याय से उत्पादन की जाती है उसका भी प्रकाश तद्वत् ही जानना चाहिये।

अतएव अन्यायसे लक्ष्मी कभी भी उत्पादन न करना चाहिये। जब वह आत्मा उक्त तीनों शुद्धियों से विभूषित हो जायगा तब वह लौकिक पक्ष में सदाचारी कहलाने लग जायगा।

इसी कारण से द्रव्यात्मा को चारित्रात्मा भी कहा जाता है क्योंकि आत्मा के आत्म प्रदेश जब सम्यग्चारित्र में प्रविष्ट होजाते हैं तब यह आत्मा चारित्रात्मा बन जाता है। जब वे प्रदेश मिथ्याचरण में प्रविष्ट होते हैं तब उस आत्मा को मिथ्याचारित्री (कदाचारी) कहाजाता है।

सो सिद्धांत यह निकला कि उपाधिभेद से द्रव्यात्मा चारित्रात्मा भी हो जाता है।

पाठ छट्ठा।

वलवीर्यात्मा।

जिस प्रकार पूर्व पाठ में चारित्रात्मा का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार इस पाठ में वलवीर्यात्मा का वर्णन किया जाता है क्योंकि ज्ञात रहे कि आत्मद्रव्य के मुख्य उपयोग और वीर्य लक्षण ही शास्त्रकारोंने प्रतिपादन किये हैं।

सो वलवीर्यात्मा का आत्मभूत लक्षण है इसीसे योगादि की प्रवृत्ति सिध्द होती है और इसीसे आत्म स-क्रिय माना जाता है। अंतरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम से इसका विकास होता है। फिर इसकी प्रवृत्ति योगों द्वारा प्रत्यक्ष देखने में आती है तथा ज्ञानादि में उपयोगशक्ति का व्यवहृत करना भी इसीका काम है।

दान देने की शक्ति १ लाभ उत्पादन करने की शक्ति २ उपभोग पदार्थों के भोगने की शक्ति ३ परिभोग की शक्ति ४ अपने वल के दिखाने की शक्ति ५ यह सब शक्तियां वलवीर्य के सिरपर ही निर्भर हैं।

तथा यावन्मात्र पांचों इंद्रियां, मन, वचन और काय के योग, श्वासोश्वास आदि के प्रवृत्ति करने की शक्तियां सब इसी पर निर्भर हैं। अतएव वीर्य सम्पन्न होने से द्रव्यात्मा को वल-वीर्यात्मा भी कहा जाता है। तथा यावन्मात्र तेजसादि शरीर की शक्तियां हैं उनका प्रवर्तक भी वलवीर्यात्मा ही है।

संसारी यावन्मात्र कार्य हो रहे हैं वे सर्व इसी आत्मा के वल से हो रहे हैं। इसी प्रकार यावन्मात्र धार्मिक क्रियाएं होरही हैं वे भी इसी आत्मा के आधार पर होरही हैं।

इसी कारण से तीन प्रकार से बलवीर्य कथन किया गया है। जैसे कि:—

१ **पंडित वीर्यः**—जिन क्रियाओं के करने से कर्म-मल दूर होजावे और आत्मिक गुण प्रकट होजावें उसी को पंडितवीर्य कहते हैं।

जिस प्रकार क्षार और जल से कोई पुरुष मलयुक्त वस्त्र को धो रहा हो तब उसकी क्रिया का अंतिम फल यह निकलता है कि उस वस्त्र से मल प्रथक होकर वस्त्र फिर पवित्रता और शुद्धता को धारण करलेता है। तथा जिस प्रकार अग्नि द्वारा सुवर्ण शुद्ध किया जाता है वा अन्य क्रियाओं द्वारा भिन्न भिन्न पदार्थ शुद्ध किये जाते हैं ठीक उसी प्रकार आत्मा जो कर्म से युक्त होरहा है उसे तप, संयम तथा ध्यानादि क्रियाओं द्वारा शुद्ध करना सो उस पुरुषार्थ का नाम पंडितवीर्य्य है।

२ **बालवीर्यः**—जिन जिन क्रियाओं के द्वारा आत्मा कर्म वंधन में विशेष पड़ती हो और हिंसा, झूंट, चोरी, मैथुनक्रिया वा परिग्रह में विशेष प्रवृत्ति करती हो सो उसी

का नाम वालवीर्य है। क्योंकि जिस प्रकार वालकों का परिश्रम वा वाल क्रिड़ा किसी विशेप अर्थ के लिये नहीं होती ठीक उसी प्रकार वालवीर्य भी मोक्षसाधन नहीं वन सक्ता।

यद्यपि वालवीर्य द्वारा शत्रु हनन क्रिया, स्वकीय जय पर का पराजय करना, सांसारिक इष्ट सुखों का संपादन, अर्थ और काममें विशेप प्रवृत्ति और उसका यथोचित संपादन, नाना प्रकार के यंत्रोंका आविष्कार। साम, दाम, दंड, भेदादि नीतियों में प्रवृत्ति इत्यादि सहस्रों क्रियाएं की जाता हैं और उनकी सिद्धि के फलों का अनुभव भी किया जाता है परंतु वे क्रियाएं मोक्ष साधन में साधक नहीं वन सक्तीं। इसी कारण से उन्हें वालवीर्य कहा गया है।

तथा यावन्मात्र अधार्मिक क्रियाएं हैं जैसे कि:—धर्म, अर्थ और काम के लिये जीव हिंसा वा असत्यादि भापण वे सब वलवीर्य में ही गिनी जाती हैं।

यही कारण है कि आत्मा अनादि कालचक्र में उक्त वीर्य के द्वारा ही परिभ्रमण करता चला आया है।

३ वालपंडित वीर्य:—तृतीय वीर्य का नाम पंडितवीर्य है। इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों वातें पाई जाती हैं। क्योंकि इस गुण वाला आत्मा अर्थ, काम के सेवनके समय साथ ही धर्म का भी सेवन किये जाता है। यद्यपि उसकी

मुनिवृति तो नहीं कही जाती तथापि उसकी संसार में रहते हुए भी सर्वथा असंमय वृत्ति भी नहीं है अतः उसके परिश्रम का नाम "बाल पंडित वीर्य" है। क्योंकि जिस प्रकार वह संसारिक कार्यों में भाग लेरहा है यदि उससे अधिक वा उसके तुल्य नहीं तो कमही सही कुछ भाग धार्मिक कार्यों में भी ले ही रहा है। इसी कारण से श्री भगवान् ने भी उस गृहस्थ की सुदर्शन जाग्रणा प्रतिपादन की है।

श्रावक के द्वादश व्रत वा ११ उपासक की प्रतिमाएं इत्यादि नियमों को यथाशक्ति पालन किये जारहा है।

इसी वास्ते उसके परिश्रम का नाम बालपंडितवीर्य है। उक्त कथन से यह स्वतः ही सिद्ध होगया कि द्रव्यात्मा का नाम बलवीर्यात्मा युक्ति युक्त है।

जिस प्रकार उपाधि भेद से आत्मद्रव्य के आठ भेद वर्णन किये गये हैं, ठीक उसी प्रकार कर्मों की अपेक्षा से और जीव का पारिणामिक भाव होने से औदयिक, औपशमिक, क्षायिक क्षयोपशमिक, और पारिणामिक भाव भी जीव द्रव्य के कथन किये गए हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त भावों का जवि द्रव्य के साथ क्या सम्बन्ध है और ये भाव जीव के किस प्रकार सम्बन्धी कहे जाते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि जीव का किसी नय

की अपेक्षा से पारिणामिक स्वभाव होने से वह उक्त भावों में परिणत होता रहताही है।

जिस प्रकार घृत जिस वर्ण वा गंधादि में प्रविष्ट होजाय फिर वह उसी वर्णादि के रूप को धारण करने वाला बन जाता है। तथा जिस प्रकार निर्मळ दर्पण में जिस रंग का दोरा (सूत) दिखाया जाता है फिर उस दर्पण में उसी रंग का चित्र जा पड़ता है।

ठीक इसी प्रकार चैतन्यद्रव्य भी कर्मों की संगति से जिस प्रकार के कर्मों का उदय होता है प्रायः उसी प्रकार से उसमें पारणत होजाता है।

जैसे मादक द्रव्यों के भक्षण से जीव मदयुक्त हो जाता है वा जिस प्रकार मदिरादि के पान करने से जीव मूर्च्छा में प्रविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार पारिणामिक स्वभाववाला होने से जीव भी जीव परिणाम में परिणत होता रहता है। यदि जीव औदयिक भाव की अपेक्षा से देखाजाय तो इस के आठों कर्मों का सदैव उदय रहता है।

इसी कारण से वह नरक, तिर्यग्, मनुष्य और दैव आदि गति में वा कषायादि में परिणत हो ही रहा है। औपशमिक भाव के द्वारा इसकी कषाएँ (क्रोध, मान, माया और लोभ) और औपशमिक सम्यक्त्व आदि गुण उत्पन्न होते रहते हैं।

किंतु जब आत्मा के आठ ही कर्म क्षय हो जाते हैं तब आत्मा का क्षायिक भाव प्रकाशित हो जाता है जिसके कारण से आत्मा सिद्ध गति की प्राप्ति कर लेता है।

क्षायोपशमिक भाव के द्वारा आत्मा में मतिज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान तथा मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान तथा विंभगअज्ञान, इसी प्रकार दानलब्धि, लाभ लब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, तथा वलवीर्य की लब्धि की प्राप्ति हो जाती है।

क्योंकि यावन्मात्र आत्मिक गुणों का प्रादुर्भूत होना है वे सब क्षायोपशमिक भाव द्वारा आत्मा क्रम से उन्नति के शिखर पर चढता हुआ क्षायिक भाव की सीमा तक पहुंच जाता है। ठीक उसी प्रकार पारिणामिक भाव में भव्य पारिणामिक अभव्य पारिणामिक और जीव पारिणामिक इन तीनों परिणामों में स्वभावता से अनादि काल से परिणत हो रहा है।

अब इस स्थल पर यह शंका उप्तन्न की जासक्ती है कि भव्य पारिणामिक और अभव्य पारिणामिक और जीव पारिणामिक किसे कहते हैं।

इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है कि अनादि काल से और स्वभाव से ही जीवों का दो प्रकार का स्वभाव प्रति-पादन किया है।

भव्य पारिणामिकः— जिन आत्माओं का मुक्ति गमन का स्वभाव है। परन्तु ऐसे न समझना चाहिये। सब भव्य आत्मा भव्य स्वभावता के ही कारण से मोक्ष हो जावेंगे किंतु जिन भव्य आत्माओं को काल, स्वभाव, नियति कर्म और पुरुषार्थ ये पांच समवाय मिलेंगे वेही मोक्ष के साधक बनेंगे।

जैसे कल्पना करो कि एक शुद्ध बीज है और उसका अंकुर वा फल देने का स्वभाव भी है परन्तु जब तक उसको भी खेत [क्षेत्र] में बीज बोने (वपने) का समय नियति कर्म और पुरुषार्थ ये चारों समवाय सम्यगतया न मिल जावें तब तक वह शुद्ध बीज भी अंकुर वा फल देने में असमर्थ है। ठीक इसी प्रकार भव्य स्वभाव वाले जीव को जबतक काल नियति कर्म और पुरुषार्थ रूप चारों समवाय न मिलें तब तक वह भी मोक्ष साधक की क्रियाओं में अपनी असमर्थता रखता है।

दूसरे स्वभाव के धारक जीव इस प्रकार के होते हैं कि यदि उन आत्माओं को उक्त समवायों में से कुछ समवाय मिल भी जावें परन्तु उनका स्वभाव मोक्ष साधक नहीं है अतः वे उन समवायों की उपेक्षा ही कर लेते हैं। जैसे कि ठीक प्रकार से वर्षादि का समय यदि उपस्थित भी हो जावे तथापि दग्ध बीजादि के होने से कृषि लोग उस काल की उपेक्षा ही कर लेते हैं।

तथा जिस प्रकार अग्नि और पानी का यथावत् संयोग मिल जाने पर भी यदि मूंगादि में कोकडु आदि बीज हैं तो वे उक्त संयोग के मिल जाने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोडते। ठीक उसी प्रकार यदि अभव्य आत्माओं को सम्यगतया कालादि का संयोग भी उपलब्ध हो जावे तो फिर भी वे स्वस्वभाव मोक्ष साधन का न होने से मोक्ष के साधक नहीं बन सक्ते।

तृतीय जीव संज्ञक पारिणामिक द्रव्य है जैसे कि मुक्त आत्मा। क्योंकि मुक्तात्माओं को भव्य संज्ञक भी नहीं कह सक्ते क्योंकि भव्य मुक्ति जाने वाले आत्मा की संज्ञा है सो वे तो निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं अतः वे भव्य संज्ञक तो कहे नहीं जाते।

तथा नहीं वे अभव्य संज्ञक हैं क्योंकि अभव्य वे हैं जो मुक्ति गमन की योग्यता ही नहीं रखते। अतएव अभव्य संज्ञक भी नहीं हैं जब दोनों संज्ञाओं से वे प्रथक होगए तब उनकी केवल जीव संज्ञा ही बनी रही।

सो इस कथन का निष्कर्ष यह निकला कि कर्मों के होने से ही इस आत्मा के उपाधि भेद कारण से इस आत्मा की अनेक प्रकार व्याख्या की जासक्ती है।

परंतु स्मृति रहे बलवीर्य यह आत्मा का निज गुण है इसलिये इसकी अपेक्षा से द्रव्यात्मा को वीर्यात्मा भी कहा

जा सक्ता है। साथ में इस बात का भी ध्यान कर लेना चाहिये कि जो मुक्तात्माएं हैं उनकी द्रव्यात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा उपयोगात्मा ये चार आत्माएं तो सदैव रहती ही है परंतु अनंत बलवीर्यात्मा शक्ति रूप से तो विद्यमान है व्यावहारिक क्रियारूप से नहीं। क्योंकि व्यावहारिक क्रियाओं से वे पृथक होकर केवल सम्यक्त्वादि अन्तरंग क्रियाओं से ही सदैव मुक्त रहती हैं। कषायात्मा और योगात्मा से तो वे सदैव के लिये पृथक रहती है और न उनमें द्रव्य चारित्रात्मा ही हैः—

किंतु अनंत ज्ञानादि की शक्ति सम्पन्न है अतः इस प्रकार बलवीर्यात्मा की व्याख्या की गई है।

पाठ सातवां।

जीव।

गत पाठों में आत्मद्रव्य की व्याख्या की गई है। अब इस पाठ में उपाधि भेद से जो जीव गतागति में प्रवृत्त होते हैं उस विषय में कहते हैं।

यद्यपि सामान्यतया देखा जाय तो जीवद्रव्य सब एक ही हैं तथापि कर्मों की संगति से उसके दो भेद भी देखे जाते हैं। जैसे कि मुक्त जीव और बद्ध जीव।

सो मुक्त जीव तो संसारचक्र से छूटकर अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परम्परागत पद को प्राप्त होगया। किंतु

कर्मों से बद्ध जीव कर्मों के कारण से नाना प्रकार की गतियों में परिभ्रमण कर रहा है।

जिसप्रकार द्रव्य का अभिलाषी नाटकिया द्रव्य का अभिलाषी होकर नाना प्रकार के नाच (खेल) करता है ठीक उसी प्रकार जीव भी सांसारिक सुखों का अभिलाषी होकर नाना प्रकार के कर्म करता है। फिर उन्हीं कर्मों के वश होकर नाना प्रकार की योनियों में परिभ्रमण करने लग जाता है।

कारण कि कर्म तो इसलिये किये थे कि मुझे सुख हो जायगा परन्तु उन्हीं कर्मों ने इस प्रकार से जीव को जकड़ा कि उसका अब छूटना ही कठिन होगया। जिसके कारण से जीव को नाना प्रकार के कष्टों का सामना करना पडा और नाना प्रकार की गतियों में गमनागमन करना पडा।

प्रश्नः—गतियें कितने प्रकार से वर्णन की गई हैं ?

उत्तरः—चार प्रकार से।

प्रश्नः—वे कौन २ सी हैं ?

उत्तरः—नरक गति, तिर्यग् गति, मनुष्य गति, और देव गति।

प्रश्नः—नरक गति किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिस स्थान में परम दुःख हो उसी का नाम नरक स्थान है परन्तु नीचे लोक में नरक स्थान है वहां पर असंख्यात नारकीय जीव निवास करते हैं।

प्रश्नः—संख्या में कितने नरक स्थान हैं ?

उत्तरः—सात।

प्रश्नः—इनके नाम क्या हैं ?

उत्तरः—सुनिये ! जैसे कि घम्मा १ वंशा २ शेला ३ अंजना ४ रिष्टा ५ मघा ६ माघवती ७।

प्रश्नः—इन सात नरकों के गोत्र कौन २ से हैं ?

उत्तरः—सात ही नरकों के सात ही गोत्र हैं। रत्नप्रभा १ शर्करप्रभा २ बालुप्रभा ३ पंकप्रभा ४ धूम-प्रभा ५ तमःप्रभा ६ तमतमाप्रभा ७।

प्रश्नः—वास्तव में नरकों के भेद कितने हैं ?

उत्तरः—वास्तव में सात नरकों के १४ भेद हैं। जैसे कि उक्त सात नरकों के जीव पर्याप्त और अपर्याप्त।

प्रश्नः—पर्याप्त किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिस समय जीव नरक गति में जाकर उत्पन्न होता है उस समय वह षट पदार्थ सम्पूर्ण (पर्याप्त) करता है। जैसे कि आहार पर्याप्त १ शरीर पर्याप्त २ इंद्रिय पर्याप्त ३ श्वासोच्छ्वास पर्याप्त ४ मनः पर्याप्त ५ और भाषा पर्याप्त ६। जिस समय उक्त छःपदार्थ अपूर्ण दशा में होते हैं उस समय जीव को अपर्याप्त दशा में कहा जाता है परन्तु जिस समय उक्त छः हों पदार्थ सम्पूर्ण दशा में हो जाते हैं तव जीव को पर्याप्त कहा जाता है। सो उक्त प्रकार से नारकीय जीवों के १४ भेद कहे जाते हैं।

प्रश्नः—तिर्यग् गति किसे कहते हैं?

उत्तरः—जिस गति में जीव नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता रहे और टेढा होकर गमन करे इतनाही नहीं किंतु प्राय; अपनी आयु विकल भावों में ही पूरी करे।

प्रश्नः—तिर्यग् गति में रहने वाले जीवों के कितने भेद हैं?

उत्तरः—यद्यपि तिर्यग् गति के रहने वाले जीवों के अनेक भेद वर्णन किये हैं तथापि मुख्य भेद्र उक्त गति में रहनेवाले जीवों के ४८ वर्णन किये गए हैं।

प्रश्नः—वे भेद कौन २ से हैं।

उत्तरः—जैसे कि तिर्यग् गति के जीवों की गणनाएं एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेंद्रिय जीव तक है सो एकेन्द्रिय जीवों के भेद इस प्रकार से वर्णन किये गए हैं जैसे किः—पृथ्वी काय के चार भेद सूक्ष्म १ वादर २ पर्याप्त ३ और अपर्याप्त ४ इसी प्रकार अपकाय के जीव तेजो काय के जीव और वायु काय के जीव के विषय में भी जानना चाहिये।

परंतु वनस्पतिकाय के छः भेद जानना चाहिये। जैसे किः—सूक्ष्म १ साधारण २ प्रत्येक ३ फिर तीनों पर्याप्त और तीनों अपर्याप्त इस प्रकार वनस्पति काय के छः भेद जानना चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय कि सूक्ष्म, साधारण और प्रत्येक तथा वादर किसे कहते हैं? तो इस शंका के समाधान में कहाजाता है कि उक्त पांचों ही स्थावर सर्व लोक में सूक्ष्म रूप से सर्वत्र व्याप्त होरहे हैं अतः लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहां पर पांचों स्थावर सूक्ष्म रूप से व्याप्त न हो परंतु वे केवली भगवान के दृष्टि गोचर ही हैं।

अपितु जो पांच स्थावर वादर (स्थूल) हैं वे सर्व के दृष्टि गोचर हैं किंतु उनके जीवों का जो समूहरूप पिंड है वही छद्मस्थ आत्माओं के दृष्टिगोचर होता है नतु उनका

जीव जो वनस्पति स्थूल है उसके मुख्यतया दो भेद ही प्रतिपादन किये गए हैं। जैसे किः—प्रत्येक और साधारण सो प्रत्येक उसे कहते हैं जिसमें पृथक २ शरीर में पृथक २ जीव हों और साधारण उसका नाम है जिसके एक शरीर में अनंत जीव हों।

जैसे कंद मूलादिः—क्योंकि यावन्मात्र आलू, मूली आदि कंद मूल हैं वे सर्व अनंत काय के धरनेवाले ही हैं।

परंच जो द्वीन्द्रिय १ त्रीन्द्रिय २ चतुरिन्द्रिय ३ ये तीन प्रकार के विकलेन्द्रियतिर्यग् जीव हैं। इनके केवल पर्याप्त और अपर्याप्त इस प्रकार के भेद किये जाने पर छः भेद हो जाते हैं।

किंतु पंचेंद्रिय तिर्यग् जीवों के २० भेद इस प्रकार से वर्णन किये गए हैं जैसे किः-जलचर, स्थलचर २ खेचर ३ उरपुर ४ और भुजपर ५।

सो ये पांचों प्रकार के तिर्यग् गर्भ से भी उत्पन्न होते हैं और समुच्छिम भी होते हैं।

स्मृति रहे कि गर्भ से उत्पन्न होने वाले अंडकादि से जन्म धारण करते हैं अपितु जो समुच्छिम हैं वे विना गर्भ के केवल बाहिर के निमित्तों के मिल जाने से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

इन दोनों में केवल विशेषता यही रहती है कि जो गर्भ से उत्पन्न होते हैं उनके मन होता है और जो विना गर्भ के केवल समुच्छिम (स्वयमेव) उत्पन्न हुए हैं उनके मन नहीं होता। इसीलिये मनवालों की संज्ञा संज्ञी और जो विना मन के हैं उनकी संज्ञा असंज्ञी इस प्रकार से व्यवहृत कीगई है।

जब इनकी उक्त प्रकार से संज्ञा होगई तब इनके दस भेद भी होगए। जैसे कि:—पांच संज्ञी तिर्यग् और पांच असंज्ञी तिर्यग् फिर पांच ही पर्याप्त और पांच ही अपर्याप्त इस प्रकार सर्व भेद एकत्र करने से २० होगए।

इस प्रकार उपरोक्त २२ भेद एकन्द्रियों के और ६ भेद विकलेन्द्रियों के और २० भेद पंचेंद्रिय तिर्यगों के एकत्र करने से सर्व भेद ४८ हो जाते हैं।

यह सर्व व्यवहार नय के आश्रित होकर ही उक्त भेद वर्णन किये गए हैं।

फिर इसी नय के आश्रित होकर जलचर जीवों के अनेक भेद होने पर भी सुगम बोध कराने के लिये कच्छ, मच्छ (मत्स्य) गाहा, मकर, और सुसमार इस प्रकार भी भेद बतलाये गए हैं।

जिस प्रकार जलचरों के उक्त भेद वर्णन किये गए हैं ठीक उसी प्रकार एक खुर, दो खुर, गंडीपद (हाथी का पाद) और संज्ञी पद (जैसे सिंहादि का पाद) स्थलचरों के भेद वर्णन किये गए हैं।

चरमपक्षी, लोमपक्षी, समुद्रपक्षी, और विततपक्षी ये भेद खेचरों के वर्णन किये गए हैं।

अहि, अजगर, महोरग, अशालिका, इत्यादि उरपुर सर्पों के भेद हैं। गोह, नकुल, गिलहरी इत्यादि भुजपर सर्पों के भेद हैं। यद्यपि उक्त जीवों की लाखों योनिएं हैं तथापि तिर्यग् योनि शब्द एक ही है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तिर्यग् योनि में जीव उत्पन्न क्यों होता है? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि जीव अपने किये हुए कर्मों के प्रयोग से ही उत्पन्न होते हैं किंतु किसी अन्य आत्माओं की प्रेरणा से उत्पन्न नहीं होते।

जब आत्मा कर्म करता है तब उन कर्मों के निमित्तों का भी बांधता है। जिस प्रकार बिना बादलों के वर्षा नहीं हो सकी ठीक उसी प्रकार बिना निमित्तों के मिले कर्मों का फल भी नहीं भोगा जा सका।

प्रश्नः—जब आत्मा मनुष्य गति में आता है तब किस प्रकार से आता है ?

उत्तरः—प्रकृति से भद्रता, विनीतता, आर्जव, और अमत्सरतादि गुणों से जब जीव युक्त होता है तब आत्मा मनुष्य गति में आता है।

प्रश्नः—मनुष्य गति के कितने भेद हैं ?

उत्तरः—संग्रह नय के मत से तो केवल मनुष्य जाति का एक ही भेद है। परंतु व्यवहार नय के मत से ३०३ भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे किः—कर्म-भूमिक मनुष्य, अकर्म-भूमिक मनुष्य और अंतर्द्वीपों के मनुष्य तथा सम्मुर्च्छिम मनुष्य।

प्रश्नः—कर्म-भूमिक मनुष्य किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जो ७२ कलाएं पुरुषों की ६४ कला स्त्रियों की १०० प्रकार की शिल्प कलाएँ जो इनके द्वारा अपना जीवन व्यतीत करते हों उन्हें ही कर्म-भूमिक मनुष्य कहते हैं तथा जहां पर खड्ग विधि, लेखन विधि, वा कृपि कर्म द्वारा जीवन व्यतीत किया जा सके, उसीको कर्म-भूमि मनुष्य कहते हैं क्योंकि जब देश, धर्म, सुव्यवस्थित दशा पर हो जाता है तब कर्म-भूमिक मनुष्य अपने २ सुगृहीत कर्मों द्वारा जीवन व्यतीत करने लग जाते हैं।

प्रश्नः—अकर्म-भूमिक मनुष्य किसे कहते हैं ?

उत्तरः...जिस काल में उक्त क्रियाएं न करनी पडे केवल कल्पवृक्षों द्वारा ही अपना सुख पूर्वक जीवन व्यतीत किया जाय उस काल के उत्पन्न हुए मनुष्यों को अकर्म-भूमिक मनुष्य कहते हैं। कारण कि वह समय इस प्रकार से सुखरूप होता है कि उस काल के मनुष्य भी स्वर्गगामी होते हैं और अपना सुख पूर्वक समय व्यतीत करते हैं।

प्रश्नः—अंतर्द्वीपों के रहने वाले मनुष्य किस प्रकार के होते हैं ?

उत्तरः—लवण समुद्र में ५६ अंतर्द्वीप प्रतिपादन किये गए हैं उनमें भी अकर्म-भूमिक (युगलिये) संज्ञक मनुष्य उत्पन्न होते हैं। वे अपना जीवन भी कल्प-वृक्षों के आधार पर ही पूर्ण करते हैं फिर वे मरकर देवयोनि को ही प्राप्त हो जाते हैं। सो जल के अन्तर पर होने से ही उन्हें अन्तर्द्वीप कहा गया है। सो यदि मनुष्यलोक में सर्व क्षेत्रों की गणना की जाय तो पांच भरत, पांच ऐरवर्त्त, और पांच महाविदेह ये १५ क्षेत्र कर्म भूमियों के कहे जाते हैं किंतु पांच हेमवय, पांच हैरण्यवय, पांच हरिवर्ष, पांच रम्यकूवर्ष पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु ये ३० क्षेत्र अकर्म-भूमियों के

कथन कियें गए हैं और लवण समुद्र में एक रूपादि ५६ अन्तर्द्वीप भी मनुष्यों के ही क्षेत्र हैं। इस प्रकार सर्व एकत्र करने से १०१ मनुष्य क्षेत्र होते हैं। सो एक सौ एक पर्याप्त और एक सौ एक अपर्याप्त इस प्रकार करने से २०२ भेद मनुष्यों के होगए। फिर इन्हीं भेदों वाले मनुष्यों के अवयवों में जो समुच्छिम मनुष्य होते हैं अर्थात् एक सौ एक क्षेत्रों में समुच्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सर्व एकत्र करने से ३०३ भेद मनुष्यों के प्रतिपादन किये गए हैं।

प्रश्नः—समुच्छिम मनुष्य किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं ?

उत्तरः—जो गर्भ से उत्पन्न हुए मनुष्य हैं उनके मल मूत्रादि में जो जीव उत्पन्न होते हैं उन जीवों की मनुष्य संज्ञा है अतः उन्हें समुच्छिम मनुष्य कहते हैं।

प्रश्नः—मनुष्य के किन २ अवयवों में वे समुच्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं ?

उत्तरः—मनुष्य के [१४] चतुर्दश अवयवों में वे समुच्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

प्रश्नः—वे अवयव कौन २ से हैं ?

उत्तरः—वे भेद निम्न लिखितानुसार पढिये :—

१ (उच्चारेसुवा) मलोत्सर्ग में (विष्टा में) २ (पासवणेसुवा) मूत्रमें ३ (खेलेसुवा) मुखके मल में ४ (संघाणेसुवा) नाक के मैल में ५ (वंतेसु वा) वमनमें ६ (पित्तेसु वा) पित्तमें ७ (पूएसु वा) पूत, राध में ८ (सोणिएसु वा) रुधिर में ९ (सुक्केसु वा) शुक्र (वीर्य) में १० (सुक्क पोग्गल पडिसाडेसु वा) शुक्र पुद्गल के सड़जाने पर ११ (विगय जीव कलेवरेसु वा) मृतक के शरीर में १२ (इत्थीपुरिससंजोएसु वा) स्त्रीपुरुष के संयोग में १३ (णगर निद्ध वणेसु वा) नगर की खाई में अर्थात् नगर का खाल मल मूत्रादि के कारण से अति दुर्गंधमय होजाता है फिर उसमें समुर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होने लगती है १४ (सचेसुचेव असुइठाणेसु वा) और सब अशुचि के स्थानों में समुर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न हो जाते हैं।

अतएव विवेकशील पुरुषों को योग्य है कि वे बिना यत्नसे कोई भी क्रियाएँ न करें क्योंकि बिना यत्नसे क्रियाएं की हुई पाप कर्म बंध और व्यवहार पक्ष में रोगों की उत्पत्ति का कारण बन जाती हैं।

इसलिये प्रत्येक क्रियाएं सावधानता से की हुई दोनों लोक में शुभ फल की देने वाली होती हैं।

सो जिस प्रकार जीव मनुष्य गति में आता है ठीक उसी प्रकार जीव स्वकीय कर्मों के माहात्म्य से देवयोनि में भी चला जाता है।

प्रश्नः—देवयोनि कितने प्रकार से वर्णन की गई है ?

उत्तरः—चार प्रकार से।

प्रश्नः—वे चार प्रकार की देवयोनि कौन कौनसी हैं ?

उत्तरः—भवनपति, वानव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देव यही चार प्रकार की देवयोनी कथन की गई हैं क्योंकि उक्त चारों जातियों के देवों में जीव स्वस्वकर्मों के अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं।

प्रश्नः—उक्त देवों के उत्तर भेद कितने प्रकार से वर्णन किये गए हैं ?

उत्तरः—उक्त प्रकार के देवों के उत्तर भेद १९८ प्रतिपादन किये गये हैं। जैसे किः— दस प्रकार के भवनपति देव हैं यथाः— असुर कुमार १ नाग कुमार २ सुवर्ण कुमार ३ विद्युत कुमार ४ अग्नि कुमार ५ द्वीप कुमार ६ उदधि कुमार ७ दिक् कुमार ८ पवन कुमार ९ स्तनित कुमार १०।

इसी प्रकार १६ प्रकार के वानव्यंतर देव कथन किये गए हैं।

जैसे किः—पिशाच १ भूत २ यक्ष ३ राक्षस ४ किन्नर ५ किंपुरुप ६ महोरग ७ गान्धर्व ८ आणपन्नि ९ पानपन्नि १० इसिवाय ११ भूयवाय १२ कन्दी १३ महाकन्दी १४ कुदंड १५ पयंगवाह १६ ।

दस प्रकार के ज्योतिपी देव. जैसे किः—

चन्द्र १ सूर्य २ ग्रह ३ नक्षत्र ४ और तारा ५ यह पांचही चर और पांच ही स्थिर क्योंकि अढाईद्वीप के भीतर (अभ्यंतर) चर हैं और अढ़ाई द्वीप से बाहर स्थिर हैं ।

दस प्रकार के तिर्यग् जृंभक देव हैं:– जैसे किः– अन्न जृंभक १ पान जृंभक २ लयन जृंभक ३ शयन जृंभक ४ वस्त्र जृंभक ५ पुष्पजृंभक ६ फल जृंभक ७ पुष्प फल जृंभक ८ वीज जृंभक ९ आंवंती जृंभक १० ।

द्वादश कल्प देवलोकः– जैसे किः—

सुधर्म देवलोक १ ईशान देवलोक २ सनत्कुमार देवलोक ३ माहेंद्र देवलोक ४ ब्रह्मदेवलोक ५ लात्तक देवलोक ६ महाशुक्र देवलोक ७ सहश्रार देवलोक ८ आनत् देवलोक ९ प्राणत् देवलोक १० अरण्य देवलोक ११ अच्युत् देवलोक १२ ।

नवग्रैवेयक देवलोक जैसेः—

भद्र १ सुभद्र २ सुजात ३ सौमनस्य ४ प्रियदर्शन ५ सुदर्शन ६ अमोघ ७ सुप्रतिबद्ध ८ यशोधर ९

पांच अनुत्तर विमानः—

विजय १ वैजयन्त २ जयन्त ३ अपराजित ४ और स्वार्थसिद्ध ५।

नव लोकान्तिक देवः— सारस्वत १ आदित्य २ वृष्णी ३ वारुणी ४ गंधतोय ५ तुषिता ६ अव्याव्याध ७ आगत्य ८ और रिष्ट ९।

तीन प्रकार के किल्विषिक देवः—

१ तीन पल्योपम की आयु वाले किल्विषी देव ज्योतिषी देवों के ऊपर हैं परंतु प्रथम द्वितीय स्वर्ग के नीचे हैं २ तीन सागरोपम की आयु वाले किल्विषी देव प्रथम द्वितीय स्वर्ग के ऊपर हैं किंतु तृतीय और चतुर्थ स्वर्ग के नीचे हैं। ३ त्रयोदश सागर की स्थिति वाले किल्विषी देव पांचवें स्वर्ग के ऊपर हैं और छठे स्वर्ग के नीचे हैं।

१५ जाति के परमाधामी देव जैसे किः—

अम्ब १ अम्बरस २ साम ३ शबल ४ रौद्र ५ विरौद्र ६ काल ७ महाकाल ८ असिपत्र ९ धनुष्पत्र १० कुंभी ११ वालु १२ वैदारण १३ खरस्वर १४ महाघोष १५

ये सब ९९ प्रकार के देव पर्याप्त और अपर्याप्त रूप दो भेद करने से देवों के सर्व भेद १९८ हुए।

सो उक्त कथन किये हुए सर्व स्थानों में जीव स्व स्वकर्मों के अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं।

यद्यपि प्रस्तुत प्रकरण जीव तत्व के विषय में चलरहा था तथापि अनादि संसारचक्र में नाना प्रकार की योनियों में जीव अपने २ कर्मों के अनुसार परिभ्रमण कर रहा है अतः उन स्थानों का केवल संक्षेप मात्र से दिग्दर्शन कराया गया है।

परंच जिस समय आत्मा नूतन कर्मों को सम्वर द्वारा निरोध करलेता है तब प्राचीन जो कर्म किये हुए होते हैं उनको स्वाध्याय वा तप द्वारा क्षय कर देता है। जब सर्व प्रकार के कर्म बंधन से आत्मा विमुक्त होजाता है तब फिर वह निर्वाण पद की प्राप्ति करता है।

यदि ऐसा कहा जाय कि जब आत्मा निर्वाण पद प्राप्त कर लेने पर भी सक्रिय है तो फिर वहां पर कर्मों का बंध क्यों नहीं करता ? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि:— वह सक्रियता आत्मिक गुणों के आश्रित है किंतु कषा-यात्मा वा योगात्मा के आश्रित नहीं है इसलिये वह कर्मों का बंध नहीं कर सक्ती। क्योंकि उस क्रिया की साधन सामग्री

कर्ता के पास विद्यमान नहीं है। जिस प्रकार एक पूर्ण विद्वान पुरुष है और लेखक भी अद्वितीय है परंतु मसी पात्र या लेखनी तथा पत्र उसके पास नहीं है तो भला फिर वह किस प्रकार समर्थ विद्वान होने पर भी पत्र लिख सक्ता है? अपितु नहीं लिख सक्ता। ठीक इसी प्रकार योगात्मा वा कषायात्मा के न होने से मोक्षात्मा सक्रियत्व होने पर भी कर्मों का बंध नहीं करता। जिस प्रकार लेखन सामग्री के न होने से पत्र नहीं लिख सक्ता किंतु लेखक क्रिया उसमें विद्यमान रहती है तद्वत् मोक्षात्मा विषय जानना चाहिये।

पाठ आठवाँ।

अजीव तत्व।

पक्ष प्रतिपक्ष रूप धर्म प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है। इसी न्याय के आश्रित होकर तत्वों की संख्या गिनी जाती है।

प्रश्नः—तत्व किसे कहते हैं?

उत्तरः—वस्तु के वास्तविक स्वरूप को तत्व कहते हैं।

प्रश्नः—तत्व कितने प्रकार से वर्णन किये गए हैं?

उत्तरः—नव [९] प्रकार से।

प्रश्नः—उनके नाम क्या क्या हैं ?

उत्तरः—जीव तत्व १ अजीव तत्व २ पुण्य तत्व ३ पाप तत्व ४ आश्रव तत्व ५ सम्वर तत्व ६ निर्जरा तत्व ७ बंध तत्व ८ मोक्ष तत्व ९।

प्रश्नः—वैशेषिक मत सात तत्व मानता है, नैयायिक १६ पदार्थ मानता है, सांख्य प्रकृति और पुरुष को मानता है वैदान्त केवल एक ब्रह्म को ही स्वीकार करता है और बौद्ध पांच स्कंधों की ही उद्‌घोषणा करता है ऐसा क्यों ?

उत्तरः—जो कुछ उक्त मतवालोंने तत्व प्रति-पादन किये हैं वे वास्तव में तत्व नहीं है किंतु तत्वाभास हैं। अतः वे तत्व युक्ति क्षम नहीं हैं।

प्रश्नः—इस प्रकार तो उक्त मत वाले भी कह सक्ते हैं कि जैनमत के माने हुए वास्तव में तत्व नहीं हैं किंतु तत्वाभास ही हैं। तो भला इसमें प्रमाण ही क्या है ?

उत्तरः—प्रिय मित्रवर्य ! केवल मुख से कहदेने से ही काम नहीं चल सक्ता। जव तक कि युक्ति प्रमाण से उन तत्वों की जांच न की जाय।

प्रश्नः—आप केवल एक ही प्रमाण दीजिये जिससे उन तत्वों की अतत्वता सिद्ध हो जाय।

उत्तर;—आप स्वयं विचार कीजीये। जब पदार्थों में स्वयं सामान्य और विशेष धर्म रहते हैं तो फिर इन धर्मों को प्रथक मानने की आवश्यक्ता ही क्या है? क्योंकि जब यह दोनों धर्म प्रथक मान लिये जायँ तब पदार्थों को धर्मों से शून्य मानना पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य तत्वों के विषय में भी जानना चाहिये। तथा जब प्रकृति जड़ मानी जाती है तब उसको फिर सर्व क्रियाओं का कर्ता मान लेना कितनी आश्चर्य की बात है? नैयायिक लोगोंने वितंडा जल्प और छलादिको को भी पदार्थ मान लिया है अतः उनके तत्व कथन किये हुए वास्तव में तत्वाभास ही हैं। इसलिये उक्त कथन किये नव तत्व ही मानना युक्तियुक्त है।

प्रश्नः—संग्रह नय के मत से तत्व कितने माने गए हैं?

उत्तरः—दो।

प्रश्नः—व्यवहार नय के मत से तत्व कितने प्रतिपादन किये गए हैं?

उत्तरः—नौ (९)

प्रश्नः—जीव तत्व किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जो तीन काल में अपना अस्तित्व रखता हो आयुष्कर्म द्वारा जीता हो जिसका वर्णन गत पाठों में किया जा चुका है।

प्रश्नः—अजीवतत्व किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिस तत्व में जीवसत्ता न हो। जैसे किः—उपयोग और वीर्य न हो उसे ही अजीव तत्व कहा जाता है।

प्रश्नः—जड़ पदार्थों में क्रिया तो देखी जाती है जैसे कि परमाणु आदि की गति तो फिर अजीव तत्व उसे क्यों कहा जाता है ? क्योंकि क्रियात्मक होने से उसे जीवत्व की सिद्धि होनी चाहिये ?

उत्तरः—प्रियवर ! जड़ पदार्थों में सक्रियता तो अवश्य है परंतु वह क्रिया शल्यरूप है क्योंकि जड़त्व ही क्रिया है नतु उपयोग पुर्वक अतएव जहां पर उपयोग और वीर्य ये दोनों गुण पाये जायँ उसी को जीव कहते हैं परंतु जहां पर उपयोग गुण न हो उसी तत्व को अजीव तत्व कहते हैं।

प्रश्नः—अजीव तत्व (पदार्थ) रूपी है किंवा अरूपी है ?

उत्तरः—अजीव पदार्थरूपी भी है और अरूपी भी है।

प्रश्नः—यह कैसे ?

उत्तरः—जैन मत में षट् द्रव्य माने गए हैं। जैसे किः—धर्म द्रव्य १ अधर्म द्रव्य २ आकाश द्रव्य ३ काल द्रव्य ४ जीव द्रव्य ५ और पुद्गल द्रव्य ६ सो उक्त षट् द्रव्यों में जीव द्रव्य केवल चैतन्य संज्ञा वाला है। शेष पांच द्रव्य चेतन संज्ञा न होने से अजीव द्रव्य कहे जाते हैं किंतु उसमें भी ४ द्रव्य अरूपी और एक केवल पुद्गल द्रव्यरूपी कहा जाता है। अतएव कहा जाता है कि अजीव द्रव्य रूपी भी है और अरूपी भी है।

प्रश्नः—रूपी अजीव द्रव्य के उपभेद कितने हैं ?

उत्तरः—अरूपी अजीव द्रव्य के उपभेद ३० हैं।

प्रश्नः—वे तीस भेद किस प्रकार गिने जाते हैं ?

सुनियेः—जैसे कि धर्म द्रव्य के प्रथम तीन भेद हैं यथा स्कंध १ देश २ और प्रदेश ३ इसी प्रकार अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य के भी तीन २ भेद किये जानेपर सर्व ९ भेद हुए। फिर काल द्रव्य का केवल एक ही भेद है। इस प्रकार सर्व

भेद १० होगए। उक्त चारों द्रव्यों के निम्न लिखितानुसार २० भेद इस प्रकार गिने जाते हैं जैसे कि:—

धर्मास्तिकाय के ५ भेद:—द्रव्य से एक १ क्षेत्र से लोक परिणाम २ काल से अनादि ३ भावसे अवर्ण, अगन्ध, अरस, अरूपी ४ गुण से चलन गुण स्वभाव (गति लक्षण)। जिस प्रकार धर्मास्तिकाय के ५ भेद कथन किये गए हैं ठीक उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के भी ५ भेद जानना चाहिये। केवल गुण में विशेषता है जैसे कि:—स्थिर गुण स्वभाव।

जिस प्रकार अधर्मास्तिकाय का विवरण है उसी प्रकार आकाशास्तिकाय का वर्णन है केवल आकाशास्तिकाय के गुण में इतना विशेष है कि वह अवकाश गुण का देने वाला है।

जिस प्रकार आकाशास्तिकाय के विषय का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार काल द्रव्य का भी वर्णन है किंतु विशेषता इसी बात की है कि उसका वर्तना लक्षणस्वभाव है।

साथ में इस बात का भी विचार रखना चाहिये कि क्षेत्र से आकाश द्रव्य लोकालोक परिमाण है और काल द्रव्य क्षेत्र से समय क्षेत्र परिमाण है।

इस प्रकार सर्व भेद अरूपी अजीव तत्व के ३० हो गए।

प्रश्नः—रूपी अजीव तत्व किसे कहते हैं ?

उत्तरः—पुद्गल द्रव्य कोः—क्योंकि पुद्गल शब्द का यही अर्थ है कि जिसके परमाणुओंके मिलने और बिछुरने का स्वभाव हो तथा संयोग और वियोग के धरने वाला हो तथा यावन्मात्र पदार्थ दृष्टिगोचर हैं तथा उपभोग के अर्थ में आता है वह सब पुद्गल द्रव्य ही है।

प्रश्नः—जिस प्रकार अरूपी अजीव के ३० भेद वर्णन किये गए ठीक उसी प्रकार रूपी अजीव के कितने भेद वर्णन किये गए हैं ?

उत्तरः—५३० भेद रूपी अजीव तत्व के वर्णन किये गए हैं।

प्रश्नः—वे किस प्रकार से ?

उत्तरः—सुनिये। जैसे किः—

५ संस्थानः—परिमंडल संस्थान (चुडीके आकार) वट्ट संस्थान (वृत्ताकार—गोलाकार) त्र्यंस संस्थान (त्रिकोणाकार) चतुरस्र संस्थानः—चौकी के (पीठ के आकार) आयत संस्थान (दीर्घाकार)

५ वर्णः—कृष्ण १ नील २ पीत ३ रक्त ४ और श्वेत ५

५ रसः– तिक्त १ कटुक २ कषाय रस ३ अचम्बिल (खट्टा) ४ मधुर ५

गन्धः—दुर्गंध और सुगंध।

स्पर्शः...कर्कश १ सकोमल २ रूक्ष ३ स्निग्ध ४ लघु ५ गुरु ६ उष्ण ७ शीत ८।

परिमंडल संस्थान का भाजन हो वृत्त संस्थान प्रतिपक्ष हो तो परिमंडल संस्थान में २० बोल पडते हैं।

जैसे कि:—पांच वर्ण १ पांच रस २ दो गंध ३ आठ स्पर्श इसी प्रकार २० बोल वृत्त संस्थान में २० त्र्यंस में २० बोल चतुरस्र संस्थान में २० बोल आयत संस्थान में सर्व पांच संस्थानों में २० बोल होगए।

१ कृष्ण वर्ण के भाजन में २० बोलः—५ रस ५ संस्थान २ गंध ८ स्पर्शः—

सो इसी प्रकार नीलवर्ण, पीतवर्ण, रक्तवर्ण, और श्वेतवर्ण में भी पूर्वोक्त विधि से २०-२० बोल पड़ते हैं सो सर्व संख्या एकत्र करने से १०० बोल होजाते हैं। सो जिस प्रकार से पांच वर्णों में १०० भेद पड़ते हैं उसी प्रकार पांच रसों के भी १०० भेद होजाते हैं तथा ५ संस्थानों के भी उक्त विधि से १०० भेद बन जाते हैं परंतु सुगंध में २३

बोल पड़ते हैं जैसे कि सुगंध का भाजन है दुर्गंध उसका प्रति पक्ष है उसमें ५ वर्ण ५ रस ५ संस्थान और इसी प्रकार ८ स्पर्श इस प्रकार २३ बोल पड़जाते हैं। जिस प्रकार सुगंध में अंक पड़ते हैं उसी प्रकार दुर्गंध में भी जानना चाहिये। और आठ स्पर्शों में १८४ बोल पड़ते हैं जैसे कि:- कर्कश स्पर्श के भाजन में २३ बोल:-- ५ वर्ण ५ रस ५ संस्थान २ गंध ६ स्पर्श। इसी प्रकार आठों स्पर्शों में तेवीस २ बोलों की संभावना कर लेनी चाहिये। क्योंकि जब किसीने कर्कश स्पर्श में २३ बोल पाने हों तो उसको केवल कर्कश का प्रतिपक्ष मृदु स्पर्श ही छोडना पड़ेगा। शेष सर्व स्पर्श उसमें पड़जावेंगे।

क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि एक स्थान में दो विरोधी गुण नहीं रह सके।

सो इस प्रकार १०० बोल संस्थानों में १०० वर्णों में १०० रसों में ४६ गंधों में १८४ बोल स्पर्शों में सर्वरूपी अजीव तत्व ५३० भेद हुए। और पूर्व ३० भेद अरूपी तत्व के लिखे जा चुके हैं सो सर्व भेद अजीव तत्व के ५६० हुए।

यह केवल व्यवहार नय के आश्रित होकर मुख्य भेद वर्णन किये गए हैं किंतु उत्तर भेद तो इसके असंख्य वा अनंत हो जाते हैं।

क्योंकि जब परमाणु पुद्गल का अनंत पर्याय वर्णन किया गया है तो फिर उसके भेद भी तो अनंत हो सक्ते हैं। और यह सर्व जगत् जड़ और चेतन से युक्त है। संसारी आत्मा इसी जड़ पदार्थों के मोहमें फंसकर दुःख उठारहा है।

प्रश्नः—जड़ पदार्थों में जड़त्व गुण कबसे है?

उत्तरः—अनादि काल से।

प्रश्नः—जब अनादित्व जड़त्व गुण है तो फिर उस गुण से आत्मा विमुक्त किस प्रकार हो सक्ता है?

उत्तरः—स्वानुभवसे।

प्रश्नः—स्वानुभव किस प्रकार करना चाहिये?

उत्तरः...सदैव काल इस बातका अनुभव करते रहना चाहिये कि हे आत्मन्! तू अनंत शक्ति स्वरूप है, तू अजर अमर और सिद्ध बुद्ध है तथा हे आत्मन्! तू सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है और तू ही सब का उपास्य देव है किंतु कर्मों के कारण से तू मूर्ख और दुःखों का अनुभव कर रहा है। यदि तू धर्म और शुक्लध्यान के आश्रित होजाय तो तू सर्व प्रकार के कर्म बंधन से छूटकर सिद्ध बुद्ध होजायगा तथा यावन्मात्र पौद्गलिक सम्बन्ध तेरे साथ हो रहा है वह सर्व क्षण विनश्वर है। अतएव तुझे योग्य है कि

इस बंधन से छूटकर तू मुक्त हो तथा पवित्र भावना रूपी मल को दूर करके शुद्ध हो।

सो इस प्रकार की पवित्र भावनाओं द्वारा स्वानुभव करना चाहिये। जब सम्यग्-दर्शन द्वारा स्वानुभव किया जायगा तब सम्यग्-ज्ञान और सम्यग-चारित्र के प्राप्ति की भी संभावना की जा सकेगी।

जिससे फिर यह आत्मा तीन रत्नों की अराधना से निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकेगा।

पाठ नववां

पुण्य आत्मा.

संसार-आत्मा अनादि काल से कर्मों से संयुक्त है किन्तु जब आत्मा शुभ योगों के द्वारा कार्मण शरीर की रचना करता है तब उस समय विशेष-पुण्य रूपही वर्गणाएँ एकत्र की जाती हैं क्योंकि पुण्य कर्म का स्वभाव है कि संसार में जीवों को सुख सम्पादन करनेवाले तथा पवित्र रूप बनाने और साथ ही संसार में पुण्य रूप आत्मा सर्वत्र पूजनीय तथा यदि धार्मिक कार्यों में लक्ष देने लग जाय तो उसको देखकर अनेक आत्माएं धर्म पथ में लग सक्ती हैं।

क्योंकि उस आत्मा का आदेय [माननीय] नाम कर्म बांधा हुआ होता है जिससे उसकी कथन की हुई वाणी सर्वत्र माननीय बन जाती है ।

अतएव पुण्य रूप परमाणु संसार पक्ष में आत्मा को शुभ और पवित्र रूप बनाते हैं ।

इतना ही नहीं किंतु पुण्यरूप आत्मा के सकल मनोरथ चिंतन किये हुए सफल हो जाया करते हैं ।

देव योनि आदि बहुत सी योनियाँ उत्कृष्ट पुण्य के प्रभाव से ही जीवों को उपलब्ध होती हैं जिससे किसी नय की अपेक्षा से "ज्ञेय" रूप पुण्य होने पर भी उपादेय (ग्रहण करने योग्य) प्रतिपादन किया गयाहै ।

सो पूण्य रूप क्रियाएं केवल शुभयोगों पर ही निर्भर है । अतएव इस पाठमें इसी विषय को स्पष्ट रूप से बतलाने की चेष्टा की जायगी ।

प्रश्नः—पुण्य तत्व किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जो संसार में जीवों को शुभ वा पवित्र बनावे ।

प्रश्नः—पुण्य को तत्व क्यों माना गया है ?

उत्तरः—यह एक मुख्य रूप पुद्गलों का स्कंध होता है जो अनेक विपत्तियों से निकाल कर फिर जीव को

पवित्र बनाता है क्योंकि तत्व का वास्तवमें यही मुख्य लक्षण है कि वह स्वतंत्रता पूर्वक अपना कार्य करता रहता है।

प्रश्नः—क्या सभी आत्माएं संसार में परिभ्रमण करनेवाली पुण्योपार्जन करती रहती हैं ?

उत्तरः—हां, संसारी सभी आत्माएं समय २ उक्त कर्म का संचय करती रहती हैं परंतु विशेषता इतनी ही है कि न्यूनाधिक पुण्य प्रकृतियों का प्रत्येक आत्माएं समय २ बंध करती रहती हैं।

प्रश्नः—क्या किसी नयने पुण्य को धर्म भी माना है ?

उत्तरः—हां, व्यवहार नय के मत से पुण्य क्रियांओं को धर्म भी माना गया है।

प्रश्नः—क्या पुण्य रूप क्रियाएं आत्म रूप धर्म नहीं है ?

उत्तरः—आत्मरूप धर्म पुण्य और पाप दोनों से रहित होता है।

प्रश्नः—हम तो पुण्यरूप क्रियाओं को ही आत्मरूप धर्म समझते हैं ?

उत्तरः—यह कथन आपका विचार पूर्वक नहीं है क्योंकि यदि किसी मूर्ख व्यक्ति को विद्वानों वा जंटलमेनों

का वेप पहनाकर राजद्वार में भेजा जाय तो फिर वह क्या उस वेप के पहनने से ही विद्वान वा प्रोफेसर तथा डाक्टर आदि उपाधियों के काम देने में समर्थ हो जायगा ? कदापि नहीं। यदि ऐसा कहा जाय कि उसका वेप तो वही है तो इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है कि ऊसमें विद्या नहीं है केवल वेप क्या बना सक्ता है ? सो इसी प्रकार पुण्य रूप तत्व आत्मा के बाहर रूप वेप को पवित्र बनाता है नतु अंतरंग आत्मा को । क्योंकि पुण्य केवल अघाति में रूप कर्मों का ही फल है ।

अतएव जिस प्रकार सुंदर आभूपण वा सुंदर रूप; वस्त्र वाह्य रूप शरीर को सुंदर वा अलंकृत करते हैं उसी प्रकार पुण्य तत्व के विपय में भी जानना चाहिये ।

प्रश्नः—वास्तव में तत्व शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तरः—पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को तत्व कहते हैं ।

प्रश्नः—पुण्य तत्व किन २ कारणों से जीव बांधते हैं ?

उत्तरः—नौं प्रकार से जीव पुण्य कर्म का संचय करते हैं ।

प्रश्नः—वे कारण कोन २ से हैं ?

उत्तरः—सुनिये (अन्न पुण्णे) अन्न दान से १ (पाण पुण्णे) पानी के दान से २ (लयण पुण्णे) गिरी आदि की

गुहा के दान से वा जो पर्वतों में गृह होते हैं उनके दान करने से ३ (सयण पुण्णे) शय्या के (वसति आदि) के दान से ४ (वत्थ पुण्णे) वस्त्र के दान से ५ (मण पुण्णे) मन की शुभ प्रवृत्ति से ६ (वयण पुण्णे) शुभ वचन के योग प्रवर्ताने से ७ (काय पुण्णे) पाप कर्म से काया का निरोध करने से ८ (नमोक्कार पुण्णे) नमस्कार करने से ।

इन नौ कारणों से आत्मा पुण्य कर्म का संचय कर लेता है कारण कि जब किसी प्राणी पर अनुकम्पा के भाव उत्पन्न होते हैं तब आत्मा उक्त क्रियाओं के करने में प्रवृत होता है और फिर उन्हीं शुभ भावों से पुण्य रूप परमाणुओं का संचय किया जाता है ।

जिस प्रकार कोई आत्मा शांत चित्त से कार्तिक शुक्ल पौर्णीमासी के चन्द्र को देखता हो तथा प्रातःकाल में वर्षा पड़जाने के पश्चात पुष्प वाटिका में पुष्पों की सौंदर्यता को देखता हो तब उसके आत्मा में शांतमय परमाणुओं का संचार हो जाने से मन और चक्षुओंके परम प्रसन्नता हो जाती है । ठीक उसी प्रकार पुण्य कर्म के परमाणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ जब क्षीर नीरवत् सम्बन्ध हो जाता है तब उन परमाणुओं का संचय जब उदय भाव में आता है तब आत्मा को संसार पक्ष में पवित्र बनाकर उसे जनता में प्रतिष्ठित करा ते हैं ।

प्रश्नः—पुण्य कर्म का फल किस २ कर्म के उदय से भोगने में आता है ?

उत्तरः—चार कर्म की प्रकृतियों के उदय से आत्मा पुण्य कर्म के फलों का अनुभव करता है।

प्रश्नः—वे चार कर्म कौन २ से हैं ? उनके नाम बतलाइये।

उत्तरः—वेदनीय कर्म १ आयु कर्म २ नाम कर्म ३ और गोत्र कर्म ४।

प्रश्नः—जब नौ कारणों से आत्मा पुण्य कर्म के परमाणुओं का संचय करता है तब वे भोगते कितने प्रकार से हैं ?

उत्तरः—४२ प्रकार से पुण्य कर्म के फलों को भोगवते हैं।

प्रश्नः—वे ४२ प्रकृतियां कौन २ सी हैं कि जिनके द्वारा पुण्य कर्म का फल भोगा जाता है ?

उत्तरः—वेदनीय कर्म की साता वेदनी नाम एक ही प्रकृति है अर्थात् जिसके उदय से जीव सुखों का ही अनुभव करता रहता है और आयुष्कर्म की तीन प्रकृतियें पुण्य के उदय से प्राप्त होती हैं। जैसे कि-देवता की आयु १ मनुष्य की आयु २ और दीर्घ सुखरूप

तिर्यग् की आयु ३ । ये तीन प्रकृतियाँ जीव पुण्य कर्म के बल से आयुष्कर्म की अनुभव करता है ।

यदि ऐसा कहा जाय कि क्या पशु का आयुष्कर्म भी पुण्योदय से माना जाता है ? तो इसके उत्तर में कहा जाता है कि कर्म भूमिज वा अकर्म भूमिज बहुत से ऐसे पशु भी हैं जिनकी मनुष्य वा देवता सेवा करते हैं । इस वास्ते इस प्रकार के पशुओं का आयुष्कर्म भी पुण्योदय से माना गया है ।

पुण्य प्रकृति के उदय से नाम कर्म की ३७ प्रकृतियाँ भोगने में आती है जो निम्न लिखित अर्थ युक्त लिखी जाती हैं । जैसे कि:—

नाम कर्म किसे कहते हैं ?

जो जीव को गत्यादिक नाना रूप परिणमावे अथवा शरीरादिक बनावे भावार्थः— नामकर्म आत्मा के सूक्ष्मत्व गुण को घातता है ।

१ देव गति किसे कहते हैं ?

जो कर्म जीव का आकार देव रूप बनावे ।

२ मनुष्य गति किसे कहते हैं ?

जो कर्म जीव का आकार मनुष्य रूप बनावे.

३ पंचेन्द्रिय जाति किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के माहात्म्य से पंचेन्द्रियत्व प्राप्त होवे क्योंकि अव्यभिचारी सदृशता से एक रूप करनेवाले विशेष को जाति कहते हैं। अर्थात् वह सदृश धर्म वाले पदार्थों को ही ग्रहण करता है।

४ औदारिक शरीर किसे कहते हैं ?

उदार प्रधान अर्थात् जिस शरीर से मोक्ष जा सके तथा जो मांस अस्थि आदि से बना हुआ हो।

५ वैक्रिय शरीर किसे कहते हैं ?

एकसे अनेक और विचित्र बन सकें।

६ आहारक शरीर किसे कहते हैं ?

प्राणि दया, तीर्थंकरों की ऋद्धिका देखना, सूक्ष्म पदार्थ का जानना, संशय छेदन करना इत्यादि कारण उत्पन्न होनेपर चौदह पूर्वधारी मुनिराज योग बल से जो शरीर बनाते हैं उसे आहारक शरीर कहते हैं।

७ तेजस शरीर किसे कहते हैं ?

औदारिक वैक्रिय शरीर को तेज (कांति) देनेवाला आहार को पचाने वाला और तेजोलेश्या का साधक तेजस-शरीर कहलाता है।

८ कार्मण शरीर किसे कहते हैं ?

ज्ञानावरण आदि कर्मों का खजाना और आहार को शरीर में ठिकाने २ पहुंचाने वाला।

९ औदारिक का अंगोपांग १० वैक्रिय का अंगोपांग ११ आहारक शरीर का अंगोपांग किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से अंग (सिर, पैर, हाथ, आदि) और उपांग (अंगुली, नाक, कान, आदि) बनें सो उक्त तीनों शरीरों के अंगोपांग होते हैं शेष दो शरीरों के अंगोपांग नहीं होते हैं अतः तीनों शरीरों के अंगोपांग कहे जाते हैं।

१२ वज्रऋषभनाराचसंहनन किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से मर्कट-बंध से बंधी हुई दो हड्डियों के ऊपर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो और तीनों को भेदने वाली हड्डी की कील जिस संहनन में हो।

१३ समचतुरस्रसंस्थान किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से पलाँठी (पालखी) मारने पर शरीर की शक्ल चारों ओर से समान हो।

१४ शुभ वर्ण किसे कहते हैं ?

जिस नाम कर्म के उदय से शुभ वर्ण की उपलब्धि हो। जैसे सुंदर वर्णादि (सुंदर रूप)।

१५ शुभगंधनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से शुभ गंध की अर्थात् सुगंध की प्राप्ति हो तथा शरीर ही सुगंधित रहे वा श्वासोश्वास सुगंधमय आता रहे ।

१६ शुभरसनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस नाम कर्म के उदय से शरीर में शुभ रस की उपलब्धि हो ।

१७ शुभ स्पर्श नाम कर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से शरीर में शुभ कोमल वा रूक्षादि स्पर्श हो ।

१८ देवानुपूर्वी-नामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव विग्रह आदि गति से देवलोक में पहुंच जावे । जिस प्रकार ऊंट नकेल से खिंचा हुआ अपने अभीष्ट स्थान पर जा पहुंचता है ।

१९ मनुष्यानुपूर्वी-नामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव आनुपूर्वीद्वारा मनुष्यगति में पहुंचता है ।

२० शुभगतिनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस नाम कर्म के उदय से शुभ गति में जीव चला जावे ।

२१ अगुरुलघु नामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदयसे जीव का शरीर शीशे के गोले के समान न भारी हो और न अर्कतूल के समान हलका हो ।

२२ पराघातनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव बड़े २ बलवानों की दृष्टि में भी अजेय मालूम हो ।

२३ उच्छ्वासनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से बाहरी हवा को शरीर में नासिका द्वारा खींचना (श्वास) और शरीर के अंदर की हवा को नासिका द्वारा बाहर छोडना [उच्छ्वास] ये दोनों क्रियाएं हो उसको श्वासोच्छ्वास नामकर्म कहते हैं ।

२४ आतापनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से शरीर आतापरूप हो जैसे-सूर्य मंडल ।

२५ उद्योतनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से उद्योत रूप शरीर हो जैसे-चंद्रमंडल, नक्षत्रादि ।

२६ निर्माणनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से अंग और उपांग शरीर में अपने २ स्थान पर व्यवस्थित रहें ।

२७ तीर्थंकरनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से तीर्थंकरपद की प्राप्ति हो।

२८ त्रसनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रियादि त्रसकाय की प्राप्ति हो।

२९ बादरनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव को बादर (स्थूल) काय की प्राप्ति हो।

३० पर्याप्तनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी २ पर्याप्तियाँ से युक्त हो अर्थात यावन्मात्र जिसमें पर्याप्तियाँ पड़ती हों तावन्मात्र पर्याप्तियों से युक्त हो जावे।

३१ प्रत्येकनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदयसे एक शरीर का एक जीव स्वामी हो अर्थात एक शरीर में एक ही आत्मा निवास करनेवाले होवे। यद्यपि उसकी नेश्राय अनेक आत्माएं और भी उस शरीर में रह सक्ती हैं परंतु मुख्यतामें एक ही आत्मा उस शरीर में रहे।

३२ स्थिरनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से दांत, हड्डी वगैरह शरीर के अवयव स्थिर (अपने २ ठिकाने) हों।

३३ शुभनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुंदर हों।

३४ सौभाग्यनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव अपने ऊपर विना कारण प्रीति करें।

३५ सुस्वरनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से स्वर अच्छा हो।

३६ आदेयनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो।

३७ यशोकीर्तिनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्ति फैले (एक दिशा में प्रशंसा फैले उसे कीर्ति कहते हैं और सब दिशाओं में प्रशंसा फैले उसे यश कहते हैं)।

इस प्रकार पुण्य प्रकृति के उदय से ३७ प्रकृतियाँ नामकर्म की जीव बांधता है और फिर उसी प्रकार उन शुभ प्रकृतियों के फलों का अनुभव करता है।

गोत्रकर्म की केवल एक ही प्रकृति पुण्य प्रकृति के उदय से बांधी जाती है। जैसे कि:—उच्च गोत्र। इस प्रकार आत्मा नौ प्रकार से पुण्य प्रकृतियों को बांधकर पूर्वोक्त लिखे हुए ४२ प्रकार के उनके शुभ फलों का अनुभव करता है।

प्रश्नः—ये उक्त पुण्य प्रकृतियाँ क्या अपने आप फल देने में समर्थता रखती हैं ?

उत्तरः—जब कर्म बांधने या भोगने का समय उपस्थित होता है तब उस समय आत्मा काल, स्वभाव, नियति कर्म और पुरुषार्थ इन पांच समवायों को एकत्र कर लेता है। और जब ये पांच समवाय एकत्र हो जाते हैं तब आत्मा इनके द्वारा फलों का अनुभव करने लगता है।

प्रश्नः—इन पांच समवायों की सिद्धि में कोई दृष्टान्त देकर समझाओ ?

उत्तरः—जिस प्रकार एक कृषिवल (किसान) को अपने खेतमें धान्य बीजना है सो प्रथम तो उस धान्य के बीजने का समय (काल) ठीक होना चाहिये। जब काल ठीक है तब धान्य शुद्ध होना चाहिये क्योंकि जिस बीज का अंकुर देने का स्वभाव है वही बीज सार्थक हो सकता है अन्य नहीं।

जब स्वभाव शुद्ध है तब नियति अर्थात् बाहिर की क्रियाएं भी शुद्ध होनी चाहिये। इसी प्रकार उस बीजने आदि का कर्म भी यथावत होना चाहिये।

कल्पना करो कि जब चारों ही समवाय ठीक मिल जाँय तब फिर पुरुषार्थ की भी अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि विना पुरुषार्थ किये वे चारों समवाय निरर्थक होने की संभावना की जासकेगी।

अतएव जब पांचवां समवाय पुरुषार्थ भी यथावत् मिलगया तब वह कृपिवल अपनी क्रियासिद्धि में सफल मनोरथ हो सक्ता है।

सो इसी न्याय से आत्मा भी कर्म बांधने वा भोगने में उक्त पांच समवायों की अवश्यमेव आवश्यक्ता रखता है।

क्योंकि जिस प्रकार एक सुलेखक मषीपात्र वा पत्रादि सामग्री के विना लेखन क्रिया में सफल मनोरथ नहीं हो सक्ता, ठीक उसी प्रकार आत्मा भी उक्त पांचों समवायों के विना मिले किसी भी क्रिया की सिद्धि में सफल मनोरथ नहीं हो सक्ता।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक कार्य की सिद्धि में पांच समवायों का मिलना अत्यावश्यक ही है।

प्रश्नः—जब आत्मा पुण्य प्रकृतियों का बंध करता है तो फिर क्या वे पुण्य प्रकृतियाँ किसी विशेष कारण से पाप फल के देने वाली भी बन जाती हैं ?

उत्तरः—हां। किसी समय पुण्य प्रकृतियाँ किसी भाव विशिष्टता के कारण से पाप फल के देने वाली भी बन जाती हैं।

प्रश्नः—इसमें प्रमाण क्या है और किस कारण से ऐसा बन जाता है?

उत्तरः—इसमें प्रमाण तो आत्मा के भाव ही हैं परंतु यह बात स्वतः ध्यान में आजाती है कि कल्पना करो कि किसी आत्मा ने अन्न पुण्यादि द्वारा आत्मा के साथ शुभ परमाणुओं का संचय कर लिया परंच उसी समय उस आत्मा के भावों में राग और द्वेषरूप भावों का संचार हो गया जिससे वह पुण्य करने के पश्चात् पश्चात्ताप इतना ही नहीं किंतु जिसको पुण्य किया था उसकी निंदा तथा उसको मार देने के परिणाम धारण करने लगगया। सो इस प्रकार करने से पुण्य रूप प्रकृतियाँ पापरूप फल देने में नियुक्त की जाती हैं।

जिस प्रकार एक कांजी की छींट से दुग्ध फटकर अपने पवित्र मधुर रस को छोडकर एक विकृत रस को प्राप्त हो जाता है ठीक उसी प्रकार अशुभ भावों की विशिष्टता के कारण से पुण्यरूप प्रकृतियाँ भी अशुभ फल देनेवाली बन जाती हैं।

प्रश्नः—क्या पापरूप प्रकृतियाँ पुण्य फल के देने में भावों की विशिष्टता के कारण से समर्थ हो सक्ती हैं?

उत्तरः—हां। किसी विशिष्टतर भावों की उत्कर्षता के कारण से पापरूप प्रकृतियाँ पुण्यरूप फल के देने में समर्थ हो सक्ती हैं।

प्रश्नः—इसमें कोई प्रमाण दो ?

उत्तरः—इसमें प्रमाण तो केवल भावों की उत्कर्षता ही है। परंतु जिस प्रकार पुण्यरूप प्रकृतियों को भावों से विपरिणमन आत्मा कर सक्ता है इसी प्रकार पापरूप प्रकृतियों को भी शुभ भावों से पुण्यरूप कर सक्ता है।

जिस प्रकार दुग्ध से दधि बनाया जाता है फिर युक्ति से उसी दधि से नवनीत निकाला जासक्ता है।

फिर उसी नवनीत से घृत बन जाता है। क्रमशः अनेक पदार्थों का उस घृत में संस्कार किया जाता है।

ठीक तद्वत् शुभ भावनाओं द्वारा शुभ अशुभ प्रकृतियों का विपरिणमन किया जा सक्ता है।

इस वास्ते प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह शुभ मनोयोग द्वारा प्रत्येक पदार्थ पर विचार करता रहे जिससे ज्ञान वा पुण्य प्रकृतियों का बंध ये दोनों लाभ आत्मा को उपलब्ध होते रहें।

क्योंकि धर्म-क्रियाओं के करते समय ये पुण्य प्रकृतियाँ फिर करण (साधन) का काम दे सक्ती हैं।

आत्मा सम्यग्-दर्शनादि के द्वारा ठीक २ पदार्थों का अनुभव कर सक्ता है।

अतः प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह साधन द्वारा साध्य की प्राप्ति करे वा उसकी खोज करे।

पाठ दसवां।

आत्मानुप्रेक्षा।

प्रिय सुज्ञ जनों! यावत्काल पर्यंत आत्मा स्वानुभव नहीं करता तावत्काल पर्यंत आत्मा आत्मिक सुखों से वंचित ही रहता है। क्योंकि संसार में देखा जाता है कि प्रत्येक आत्मा सुखान्वेषी हो रहा है परंतु उस अन्वेषण के मार्ग भिन्न २ दिखाई पड़ते हैं। जैसे किः— किसी २ आत्माने धन की प्राप्ति में ही सुख मान रक्खा है और किसी २ आत्माने विवाह कार्य में सुख माना हुआ है।

तथा किसी २ आत्मा ने पुत्रोत्सव में ही सुख माना हुआ है वा किसी २ आत्मा ने अपनी अभीष्ट सिद्धि में सुख समझ रक्खा है। यदि विचार कर देखा जाय तो वे सब उक्त सुख के अन्वेषण करने के मार्ग वास्तव में सुमार्ग नहीं हैं।

क्योंकि उन मार्गों से यदि किसी आत्माको उनकी इच्छानुकूल सुख उपलब्ध भी हो जावे तो वे सुख चिरस्थायी

नहीं होते हैं। जैसे कि:- जब धन की इच्छानुकूल प्राप्ति होगई तबतो मानलो कि उस आत्मा को सुख तो होगया परंतु जब उसी धन का किसी निमित्त से वियोग होजाता है तब फिर वही आत्मा परम शोक से व्याकुल हो जाता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिये।

अतएव परम सुख की प्राप्ति के लिये स्वानुभव करना चाहिये। अब प्रश्न यह उपस्थित हो सक्ता है कि स्वानुभव किस प्रकार करना चाहिये ? तो इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है कि जब आत्मा की बाहिरी वासनाएं नष्ट हो जाती हैं और उस आत्मा के समभाव प्रत्येक जीव के साथ हो जाते हैं तब उस समय आत्मा स्वानुभव कर सक्ता है।

अतएव आत्मा के स्वानुभव करने के लिये प्रथम पांच बातों को अवश्यमेव ध्यान रखना चाहिये। जैसे कि:-...

विवेक १ विचार २ शांति ३ निर्ममत्व भाव ४ आत्म विकास करने का शुद्ध स्थान ५ इन पांच बातों का विचार सदैवकाल करते रहना चाहिये। जैसे कि:—

१ **विवेक:**—सत् और असत् वस्तु पर विचार करते रहना। साथही इस बात का विचार करना कि हेय, ज्ञेय और उपादेय पदार्थ कौन २ से हैं ? क्योंकि यावत्काल पर्यन्त

आत्मा हेयरूप पदार्थों का परित्याग नहीं करता और ज्ञेय-रूप पदार्थों को ज्ञेयरूप नहीं समझता तथा उपादेयरूप पदार्थों को धारण नहीं कर सक्ता तबतक उस आत्मा को शांति का मार्ग ही उपलब्ध नहीं हो सकता ।

कारण कि जबतक उस आत्माने पाप कर्मों का परि-त्याग नहीं किया और जीव तथा अजीव या पुण्य कर्मों के मार्गों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया, संवर या निर्जरा के मार्गों को अंगीकार नहीं किया तबतक उस आत्मा को किस प्रकार स्वानुभव हो सक्ता है ?

तथा जिस प्रकार वायु से दीपक कंपायमान होता रहता है या जल में वायु के कारण से बुद्बुद (बुल बुले) उत्पन्न होते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार पुण्य और पाप के बल से या उनकी उत्कृष्टता से आत्मा भी अस्थिर चित्तवाला हो जाता है जिसके कारण से वह स्वानुभव नहीं कर सक्ता वा करने में उसे कई प्रकार के विघ्न उपस्थित होते रहते हैं ।

अतएव विवेक द्वारा प्रत्येक पदार्थ पर ठीक २ अनुभव करना चाहिये अर्थात् प्रत्येक क्रियाएँ विवेक पूर्वक ही होनी चाहिये.

क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी गई है कि जो कार्य विवेव पूर्वक किया जाता है वह सदैव काल शुभ और पवित्र तथा आत्मा के हित के लिये होता है ।

२ विचारः— जब प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक होने लगता है तब आत्मा सदैव काल विचार के आश्रित रहने लग जाता है कारण कि इन दोनों का विचार परस्पर अविनाभावी संबंध है जैसे कि:— विवेक विचार के आश्रित और विचार विवेक के आश्रित रहता है।

जिस प्रकार विवेक पूर्वक एक शुद्ध वाक्य उच्चारण किये जाने पर तब विचार से निश्चित होता है जिस प्रकार के वाक्य का हम प्रयोग करेंगे उसी प्रकार का प्रत्याघात हमारे सन्मुख उपस्थित हो जायगा।

इसी प्रकार जब हम किसी व्यक्ति को कटुक और स्नेह रहित वाक्य का प्रयोग करेंगे तब वह व्यक्ति उससे कई गुणा बढके निष्ठुर और परम दारुण इतना ही नहीं किंतु मर्म प्रकाशक कर्णेन्द्रिय को असहनीय वाक्यों का प्रहार करने लग जाता है सो इस कथन से यह बात भली प्रकार से सिद्ध हो जाती है कि जिस प्रकार का हम लोगों के साथ वचन का व्यवहार करते हैं उसके प्रतिरूप में हमें उसी प्रकार के वचनों के सुनने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

सो उक्त विचार से हम को भली प्रकार से निश्चित हो जाता है कि हमें वचन विवेक पूर्वक उच्चारण करना चाहिये क्योंकि जो कार्य विचार वा विवेक पूर्वक किया जाता है यदि वह सर्वथा सफलता प्राप्त न कर सके तो वह हानि भी नहीं उठा सक्ता।

विचार प्रत्येक पदार्थ में होना चाहिये। देखियेः—

यदि खानपानादि में विचार किया जाय तो भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थों का भली भांति ज्ञान हो जाता है। यदि भक्ष्य पदार्थों पर भोजन करते समय विचार किया जाय तव परिमित भोजन करने से रोगों से निवृत्ति और शरीर के आलस्य का नाश होता है।

यदि चलते समय विचार किया जाय तो जीव रक्षा तथा ठोकरादि से शारीरिक रक्षा भली प्रकार से हो जाती है। यदि भापण विचार पूर्वक किया जाय तो आत्म विकास और जनता में यश शीघ्र ही हो जाता है। यदि खानपानादि पदार्थों पर विचार किया जाय तब इच्छा निरोध और खाद्य पदार्थ पवित्र सेवन करने में आते हैं जिससे मनकी प्रसन्नता और रोगों की निवृत्ति होने की संभावना की जा सक्ती है।

यदि जो २ पदार्थ रखने वा उठाने वाले विवेक या विचारपूर्वक रखें या उठावें तब एक तो जीव रक्षा दूसरे पदार्थों का ठीक बने रहना देखने में आता है।

जैसे कि किसीने घृत का घट विना यत्नसे रख दिया तब घट के फूटने की संभावना और घृत के भूमि पर गिर जाने की संभावना की जा सक्ती है।

तथा किसीने कांच के बर्तन या हंडीं आदि भाजन विना विचार से गेर दिये (रखे) तब वे फिर फूट जायँगे।

या किसीने खांड से बांधे हुए को बिना विचार से बालु राशी में गेर दिया फिर अकस्मात उस खांड के वस्त्र की खांड खुलजाय तब सर्व खांड बालु की राशि में सम्मिलित हो जायगी ।

इसी प्रकार प्रत्येक कार्य के विषय में संभावना कर लेनी चाहिये ।

यदि मल मूत्रादि के गेरने का समय उपस्थित हो जाय तब भी विचार की अत्यंत आवश्यकता रहती है क्योंकि बिना योग्य स्थान के देखे उक्त पदार्थों का गेरना दुःखप्रद और रोगप्रद तथा घृणास्पद हो जाता है ।

अतएव उक्त पदार्थ भी बिना विचार से न करना चाहियें । तथा जिस स्थान पर पहिले मल मूत्रादि पदार्थ पडे हुए हों उस स्थानपर मल मूत्रादि न करना चाहिये ।

कारण कि मलमूत्र करने से एक तो जीवहिंसा दूसरे रोगों की प्राप्ति होने को संभावना की जा सक्ती है क्योंकि मल, मूत्र में असंख्यात समुर्च्छिम जीव उत्पन्न होते रहते हैं सो जब उन जीवों पर मल मूत्र किया गया तो वे जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ।

तथा अति दुर्गंध होने से फिर कई प्रकार के रोगों के उत्पन्न होने की संभावना हो जाती है सो इस प्रकार की क्रियाएं भी बिना विचार से न होनी चाहिये ।

इसी प्रकार प्रत्येक गेरनेवाले पदार्थों के विषय में विचार करलेना चाहिये तथा जो अनभिज्ञ आत्माएं स्वकीय मुख के मल (खुंखार) को अपनी भित्ति दिवारों आदि पर वा दुकान के आगे ही गेर देते हैं जिससे प्रत्येक आदमी को घृणा आती है और यदि उक्त पदार्थों का स्पर्श हो जाय तो जीव हिंसा भी हो जाती है इसलिये उपरोक्त क्रियाएं विना विचार से न होनी चाहिये।

सो उक्त कथन से स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक क्रियाओं के करते समय विचार की अत्यंत आवश्यक्ता है।

३ शांतिः—जव विचार पूर्वक क्रियाएं होने लग जाती हैं तब क्षमा की भी अत्यंत आवश्यक्ता रहती है क्योंकि विना क्षमा के धारण किये विवेक और विचार ये दोनों ही निरर्थक हो जाते हैं।

शांति पूर्वक ही विवेक और विचार ठीक रह सक्ते हैं क्योंकि जब आत्म प्रदेश शांत दशामें होंगे तवही शुभ भावना उत्पन्न हो सक्ती है। यदि आत्म प्रदेश अशांत दशा में होते हैं तब विवेक और विचार भी अपना काम ठीक नहीं कर सक्ते। जब कि क्रोधी आत्मा अपने नाश करने में भी विलम्ब नहीं करना चाहता तो भला फिर वह विवेक और विचार से क्या काम ले सक्ता है ?

तथा ऐसा कौनसा अकार्य है जो क्रोधी नहीं कर बैठता ? सो आत्म विचार करने के लिये प्रथम शांति धारण करनी चाहिये ।

शास्त्रों में लिखा है कि " कोहो पीइंप्पणासेइ" क्रोध प्रीति का नाश कर देता है । सो जिन २ पदार्थों पर प्रीति होती है, क्रोधी उन २ पदार्थों का नाश कर देता है ।

सो विचारशील व्यक्तियों को योग्य है कि वे शांति द्वारा क्रोध को शांत करें । जब क्रोध शांत होगया तब फिर आत्मा विवेक और विचार से ठीक प्रकार के काम ले सकता है ।

जिस प्रकार क्रोध प्रत्येक पदार्थ के नाश करने में या बिगाड़ने में सामर्थ्य रखता है ठीक उसी प्रकार क्षमा प्रत्येक कार्य की सफलता करने में सामर्थ्य रखती है ।

कहा गया है कि शत्रुओं के जीतने में क्षमारूप एक महान प्राकार [गढ़ वा कोट] है जिसमें कोई शत्रु प्रविष्ठ ही नहीं हो सकता ।

अतएव आत्मानुप्रेक्षा के लिये शांति अवश्य धारण करलेना चाहिये ।

४ निर्ममत्व भावः—यावतकाल पर्यंत आत्मा निर्ममत्व भाव के आश्रित नहीं होता तावत्काल पर्यंत वह मोहनीय कर्म

के बंधन से विमुक्त भी नहीं हो सक्ता। जब मोहनीय कर्म से विमुक्त न हुआ तब वह आत्मा कर्म बंधन से भी छूट नहीं सक्ता।

फिर यह बात स्वाभाविक मानी हुई है कि जबतक आत्मा कर्मों से रहित नहीं होगा तब तक वह निर्वाण की प्राप्ति भी नहीं कर सकेगा।

अतएव निर्ममत्वभाव का अवश्यमेव अवलम्बन करना चाहिये।

तथा इस बात का भी हृदय में चिन्तवन करना चाहिये कि जब स्वशरीर की भी सर्व प्रकार से अस्थिरता देखी जाती है तो फिर ममत्वभाव किस पदार्थ पर किया जाय?

अतएव श्री आचारंग सूत्र में लिखा है कि "**पुरिसा तुमभेव तुमं मित्तं किं बहियामित्तमिच्छसि**" हे पुरुष! तूही अपनी आत्मा का मित्र है तो फिर क्यों तू बाहिर के मित्र की इच्छा करता है? इस पाठका भाव यह है कि श्री भगवान भव्य जीवों प्रति उपदेश करते हैं कि हे पुरुषों! तुमही अपने आत्मा के मित्र हो तो फिर क्यों तुम अन्य मित्रों की आशा करते हो? क्योंकि जब तुम्हारा जीवन सदाचार और सद्विद्या से विभूषित हो जायगा तब सब जीव प्रायः तुमको ही अपना उपास्य मानने लग जायँगे और प्रेम पूर्वक तुह्मारी

भक्ति में अपने जीवन को सफल बनाने की चेष्टा करेंगे। सो इससे सिद्ध हुआ कि वास्तव में तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा मित्र है।

जिस प्रकार आत्मा को मित्र माना गया है ठीक उसी प्रकार आत्मा यदि सदाचार व सद्विद्या से विभूषित न किया तो यही आत्मा अमित्ररूप बनकर दुःखप्रद होजाता है। सो इससे स्वतः ही सिद्ध होगया कि वास्तव में मित्र या अमित्र आत्मा ही है। इसलिये ममत्वभाव को सर्वथा छोडकर केवल निर्ममत्वभाव के आश्रित होकर आत्मान्वेषी बन जाना चाहिये।

तथा इस बात का भी पुनः चिंतवन करते रहना चाहिये कि अनंतवार इस आत्मा ने स्वर्गीय सुखों का अनुभव किया है किंतु फिर भी इसकी तृष्णा शांत न हुई तो भला इन वर्तमान कालीन क्षुद्र सुखों से क्या इस आत्मा की तृष्णा शांत हो जायगी? कदापि नहीं। तथा अपने जीवन की दशा-पर प्रत्येक व्यक्ति को दृष्टी डालनी चाहिये कि मेरे जीवन में सुःखप्रद या दुखप्रद कितने प्रकार की घटनाएं हो चुकी हैं तो मैं किन २ घटनाओं पर ममत्व भाव करूं?

जब वे घटनाएं स्थिर रूप से न रह सकी तो फिर मेरा उन घटनाओं पर ममत्वभाव करना मेरी मूर्खता का ही सूचक है। तथा ममत्व प्रायः तीन पदार्थों पर किया जाता है।

जैसे किः—धन, पशुवर्ग, वा ज्ञातिजन। सो यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो वास्तव में तीनों की स्थिरता नहीं है। अतः ममत्व करना भी व्यर्थ सिद्ध हुआ।

इस प्रकार की शुभ भावनाओं द्वारा जब आत्मा निर्ममत्व भाव के आश्रित होजायगा तब इस आत्मा का उत्साह और पंडित पुरुषार्थ उन्नत दशापर पहुच जायगा जिसके कारण से फिर यह आत्मा आत्मान्वेषी भाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा।

जब आत्मान्वेषी बनेगा तब उस आत्मा के आत्म विकास का प्रादुर्भाव होने लगेगा।

५ आत्म विकासः—जिस प्रकार बादलों के दूर होजाने पर सूर्य का विकास होने लगता है तथा जिस प्रकार सूर्य के उदय होजाने पर सूर्यविकासी कमल विकसित हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार कर्मों के अपगम होजाने पर आत्मा की अचिंत्य शक्तियाँ विकसित होने लग जाती हैं।

जब कर्म आत्म प्रदेशों से सर्वथा प्रथक हो जाते हैं तब आत्मा के अनंत गुण प्रकट हो जाते हैं जिससे फिर उसी आत्मा को सर्वज्ञ या सर्वदर्शी कहा जाता है।

यदि ऐसा कहा जाय कि सर्वथा कर्म किस प्रकार आत्मा से पृथक् हो सक्ते हैं ? तो इसके उत्तर में कहा जा

सक्ता है कि जब आत्मा के आश्रव द्वारों का संवर के द्वारा निरोध किया जायगा तब नूतन कर्मों का आगमन तो निरोध हो ही जायगा परंतु जो प्राचीन शेष कर्म रहते हैं वे स्वाध्याय और ध्यान तप के द्वारा क्षय किये जा सके हैं।

सो जब सर्वथा आत्मा कर्मों से रहित हो जायगा तब इसको निर्वाण पद की प्राप्ति अवश्य होजायगी।

क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि:—"ध्याता, ध्येय, और ध्यान" ये तीन होते हैं परंतु जब आत्मा ध्येय में तल्लीन होजाता है तब वह तीनों से एक ही रह जाता है। जिस प्रकार कल्पना करो कि किसी व्यक्तिके स्वकीय पुत्र को विद्या अध्ययन कराना है तब वह तीनों का एकत्व करना चाहता है। जैसे कि:– एक विद्यार्थी और दूसरा पुस्तक तीसरा अध्यापक। तब वह विद्यार्थी पढ़कर अध्यापक की परीक्षामें उत्तीर्ण होजाता है तब वह पूर्व तीनों पदों का धारण करनेवाला स्वयं ही बन जाता है। ठीक इसी प्रकार जब ध्याता ध्येय में तल्लीन होजाता है तब वह तद्रूप ही होजाता है।

जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश में सहस्रों दीपकों का प्रकाश एक रूप होकर ठहरता है ठीक उसी प्रकार ध्याता, ध्येय में तल्लीन होजाता है।

अतएव स्मृति रखना चाहिये कि जबतक आत्मा उक्त दशाका अवलम्बन नहीं करता तबतक इसका आत्मविकास भी नहीं होसक्ता। जब आत्मविकास न हुआ तब इस आत्मा को निर्वाण पद की प्राप्ति किस प्रकार मानी जा सक्ती है ? सो इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि आत्मविकास करने के लिये स्वावलम्बन अवश्यमेव होना चाहिये। क्योंकि जिन २ सुखों का आनंद द्रष्टा अनुभव कर सक्ता है उन २ सुखों के अनंतवें भाग मात्र भी संसारी आत्मा सुखों का अनुभव नहीं कर सक्ते। क्योंकि जो सूर्य का स्वाभाविक प्रकाश है उसके सदृश सहस्रों दीपकों का प्रकाश भी नहीं हो सक्ता। क्योंकि वह प्रकाश कृत्रिम है और सोपाधिक है। सूर्य का प्रकाश स्वाभाविक और निरुपाधिक है।

अतः शुभ भावनाओं और ध्यान समाधि द्वारा आत्म विकास करना चाहिये जिससे आत्मा को अक्षय सुख के अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त हो जावे।

वास्तव में जिन आत्माओंने आत्मा को ही ध्येय बना लिया है वे आत्माएं अपनी क्रियाओं में कृतकृत्य होकर निर्वाण पद की प्राप्ति कर गई हैं। इसी प्रकार अन्य आत्माओं को भी उनका अनुकरण करना चाहिये जिससे वे भी निर्वाण पद की प्राप्ति करने में समर्थ बन सकें।

पाठ ग्यारहवाँ ।

पिता पुत्र का संवाद ।

पुत्रः—पिताजी ! पुत्र के प्रति पिताजी का क्या कर्तव्य है ?

पिताः— मेरे परम प्रिय पुत्र ! पिता का पुत्र के प्रति यह कर्तव्य है कि वह पुत्र की यथोक्त विधि से रक्षा करे ।

पुत्रः— पूज्य पिताजी ! यथोक्त विधि से रक्षा किसे कहते हैं ? मैं इसे समझ नहीं सकता ।

पिताः— मेरे प्यारे नुनु ! जिस प्रकार शास्त्रों ने पुत्र पालने के नियम प्रतिपादन किये हैं ठीक उन्हीं नियमों के द्वारा पिताओं का कर्तव्य है कि वे अपने पुत्रों की पालना या रक्षा करें ।

पुत्रः— पिताजी ! शास्त्रों ने कौन २ से नियम पुत्र पालने या रक्षा करने के प्रतिपादन किये हैं । क्योंकि मैं उन नियमों को सुनना चाहता हूं ।

पिताः— पुत्र ! शास्त्रों ने दो प्रकार के नियम प्रतिपादन किये हैं जैसे कि:—मुख्य और गौण किंतु शोक से कहना पडता है कि जो मुख्य गुण थे वे तो गौणता रूप में आगए हैं और जो गौणता रूप

में गुण थे वे मुख्यता रूप में अविष्ठ होगए हैं।
इसीलिये पुत्रों का पालन। यथोक्त विधि से प्रायः
वर्तमान काल में नहीं होता। प्रत्युत प्रतिकूल रक्षा
होनेसे पुत्रोंकी रक्षा दुर्व्यवस्था रूपमें होगई है।

पुत्रः— पिताजी ! मुझे यह तो कृपाकरके बतलाइये कि
मुख्य रक्षा करने के नियम कौन २ से हैं और
गौण गुण कौन २ से हैं ?

पिताः—मेरे परम प्यारे सुत ! पिताओं का प्रथम यह
कर्तव्य है कि वे अपने प्रिय पुत्रों को सदाचार
और सद्विद्याओं द्वारा उनकी पालना करें किंतु
गौणतारूप में खान पान वस्त्र आभूषण भोग और
उपभोगादि द्वारा भी उनकी पालना करें। परंच
वर्तमान काल में प्रायःदेखा जाता है कि प्रायः गौण
रूप जो नियम थे उनकी ओर तो विशेष ध्यान
दिया जाता है और जो सदाचार और सद्विद्याओं
द्वारा उनके जीवन को अलंकृत करना था उसकी
ओर बहुत न्यून ध्यान देखने में आता है।

पुत्रः—पिताजी ! जब अच्छे २ वस्त्रों और आभूषणों से
अपने पुत्रों को आभूषित किया जायगा तब वे बड़े
ही सुंदर लगेंगे जिससे प्रत्येक व्यक्ति उनसे प्रेम
करने की उत्कट इच्छा धारण करेगा साथ ही

लोगों में उस पिता की प्रशंसा भी बढ़ जायगी कि देखो भाई ! अमुक पिता अपने पुत्रों को किस प्रकार प्रसन्न रखता है और धन प्राप्त करने की सफलता भी उसी को है जो अपने प्यारे पुत्रों की मांग शीघ्र पूरी कर देता है। अतः यही नियम पालन करने के मुख्य हो सक्ते हैं क्योंकि जब धनाढय कुल में उत्पन्न होने पर भी न तो उन बालकों को उनकी इच्छानुकूल भोजन ही मिलता है और न सुंदर वस्त्र तथा आभूषण पहिनने को उपलब्ध होते हैं तो भला फिर धनाढय कुल में उत्पन्न होकर उन बालकोंने क्या लाभ प्राप्त किया ?

पिताः—पुत्र ! तू अभी अनभिज्ञ है। तुझे खबर नहीं कि उक्त कारणों से क्या २ दोष उत्पन्न होते हैं ।

पुत्रः—पिताजी ! उक्त नियमों के सेवन करने से क्या २ दोष उत्पन्न होते हैं, मुझे आपही कृपा करके सुनाइये ?

पिताः—हे पुत्र ! जब बालकों को सदैवकाल सुंदर वस्त्रों वा आभूषणों से विभूषित किया जायगा तब उनमें निम्न लिखित दोष उत्पन्न होने की संभावना की जा सकेगी। जैसे कि यदि बालक अत्यंत बालस्वभाव

को प्राप्त होरहा है तब तो कोई दुष्ट आत्मा धन और वस्त्रों का लोभी उस बालक के आभूषण या वस्त्र उतारकर लेजायगा। तथा कोई अनार्य भाव को प्राप्त होकर उस बालक को प्राणों से ही विमुक्त कर देगा अर्थात् मार देगा। तथा कोई दुष्ट मनुष्य उस बालक को हरणही कर लेजायगा। इत्यादि आभूषणों व वस्त्रों द्वारा अनेक संकटों का सामना उस बालक को करना पडेगा।

साथही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि जब उस कोमल शरीरवाले बालक को विभूषित किया जाता है तब उस बालक पर काम राग के आसेवी जन उस बालक को कदाचार में प्रवृत्त करादेंगे जिससे उस बालक का सदाचार कुछ समय के पश्चात् ही नष्ट भ्रष्ट होजायगा। अतएव कुछ महत्सवों के समयों को छोडकर सदैव काल बालकों को विभूषित करते रहना बालकों के पवित्र जीवन को कदाचार में प्रवृत्त कराने का हेतु बन जाता है।

अतएव पिताओं को योग्य है कि वे अपने प्रिय पुत्रों को विद्या और सदाचार से विभूषित करने की चेष्टाएं करते रहें।

तथा यदि मुख मांगा धन बालकों को दिया जायगा तब वे बालक बहुतही शीघ्र कदाचार में प्रवृत्त होजायेंगे जैसे

किः—जब उनको उनकी इच्छानुसार धन का लाभ मिलता रहता है तब उस धन के भोगने के लिये उसके मित्रगण भी एकत्र होजाते हैं जिससे फिर मित्र मंडली उसी को दुष्टाचार में लगा देती है।

इसलिये परिमाण से अधिक बालकों को खरच देना लाभ के स्थान पर एक प्रकार की हानि का कारण बन जाता है।

हां, यह बात भी अवश्य विचारणीय है कि यदि सर्वथा ही उन बालकों को कुछ भी न दिया जाय तब भी वे बालक कदाचार में प्रविष्ट होजायेंगे क्योंकि जब उनको उनकी आवश्यकीय आवश्यकतानुसार तो खरच घर से उपलब्ध होता ही नहीं तब वे अपने मित्रों से खरच लेने की चेष्टा करेंगे जिससे फिर वे प्रसंगानुसार वा अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के लिये अवश्यही कुमार्ग में प्रविष्ट होजायेंगे तथा कुसंग में फंसे हुए फिर वे सर्वथा माता पिता की आज्ञा से ही बाहिर दिखायेंगे।

इसलिये पिताओं को योग्य है कि वे अपने प्रिय पुत्रों की यथोक्त रीति से पालना करें जिससे उनकी आवश्यकीय आवश्यक्ताएं तो पूरी होती रहें और सदाचार वा विद्या की वृद्धी भी होती रहे।

पुत्रः—पिताजी ! सदाचार किसे कहते हैं ?

पिताः—पुत्र ! जिससे अपना जीवन तो सुख पुर्वक व्यतीत किया जा सके और धर्म की वृद्धि होती रहे तथा धार्मिक जीवन से फिर स्वर्ग वा निर्वाण पद की प्राप्ति भी होजावे।

पुत्रः—पिताजी ! वे नियम कौन २ से हैं कि जिनसे दोनों लोगों की शुद्धि होजाती है ?

पिताः—पुत्र ! यदि तूं उन नियमों को सुनना चाहता है तो तू ध्यान देकर सुन। जिससे दोनों लोगों की भली प्रकार शुद्धि हो सक्ती है।

पुत्रः—पिताजी ! मैं ध्यान देकर आपके पवित्र उपदेश को सुनता हूं, आप सुनाइये।

पिताः—पुत्र ! प्रथम तो बालकों को अपने पवित्र जीवन बनाने के लिये काया की शुद्धि करनी चाहिये। उन्हें बिना यत्न से बडों के सामने न बैठना चाहिये और जिस प्रकार अपने वृद्धों की व माता पिता का अविनय न होवे उसी प्रकार उनके सामने बैठना चाहिये। प्रातःकाल अपनी शय्या से उठते ही माता पिता व वृद्धों को नमस्कार करते हुए उनके चरण कमल का स्पर्श करना चाहिये।

क्योंकि इस प्रकार की क्रियाएं करते हुए उनके मुख से जो आशिर्वाद के उद्गार निकलते हैं वे उन बालकों को अत्यंत सुखप्रद होते हैं।

तद्तु सब प्रकार की कायिक चेष्टाएं जो की जायं वे सब विनय पूर्वक वा यत्न पूर्वक होनी चाहिये। जब काया शुद्धि ठीक होजाय तब फिर बालकों को वागशुद्धि भी करना चाहिये। जैसे कि कभी भी मुख से गाली न निकालनी चाहिये क्योंकि गाली के निकालने से एकतो अपना मुख अपवित्र होता है दूसरे जो उस गाली को सुनते हैं वे इस प्रकार के अपने अन्तःकरण में भाव उत्पन्न करते हैं जो उस बालक के लिये सुखप्रद नहीं होते।

इसलिये जब बोलने का समय उपस्थित हो जाय तब मधुर भाषी बनना चाहिये।

तथा यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि स्नेह और प्रीति पूर्वक भाषण किया हुआ शब्द प्रत्येक व्यक्ति को वश करने में सामर्थ्यता रखता है।

तथा मधुर भाषी बालक से प्रत्येक व्यक्ति प्रेम दृष्टि धारण कर लेता है इतना ही नहीं किंतु उस बालक की रक्षा करने में कटिबद्ध होजाता है।

अतएव विनय पूर्वक मधुर भाषी प्रत्येक बालक को होना चाहिये तथा अपने मुख से कभी भी असत्य वचन न बोलना चाहिये।

इसमें देखा जाता है कि बहुत से बालकों का स्वभाव होता है कि वे काम तो आप बिगाड बैठते हैं और जब उनसे पूछा जाता है तब वे अपनी निर्दोपता सिद्ध करने के लिये किसी और का नाम ले बैठते हैं सो यह काम अत्यंत अनुचित है। इससे फिर उस बालक पर से प्रत्येक व्यक्ति का विश्वास उठजाता है। इसलिये बालकपन से ही झूठ वा किसी को करनेका अभ्यास न डालना चाहिये। साथ ही इस बातका भी विवेक रखना चाहिये कि मेरा किन २ के साथ किस २ प्रकार का सम्बंध है। फिर उस सम्बन्ध को उसी प्रकार विनय से पालन करना चाहिये।

जहांतक हो सके अल्प वा मधुर भाषी बनने का स्वभाव डालना चाहिये।

जिस प्रकार वागशुद्धि का वर्णन किया गया है उसी प्रकार मन—शुद्धि का भी वर्णन जान लेना चाहिये।

जैसे कि:-मनोवृत्ति से किसी की इर्षा न करनी चाहिये। यदि किसी समय कोई वस्तु मांगने पर भी उपलब्ध नहीं हो तो उस समय क्रोध के वशीभूत होकर नाना प्रकार के

अपशब्द मुख से निकालने या किसी प्रकार से भी क्रोध का परित्याग न करना इत्यादि क्रियाएँ बालकों को कदापि नहीं करनी चाहिये।

क्योंकि इस प्रकार का स्वभाव यदि पड जायगा, तब वह आयुभर में भी नहीं जा सकेगा।

साथ ही बालकों को योग्य है कि वे माता पिता आदि के सामने कदापि मिथ्याग्रह से वस्तु की प्राप्ति करने की चेष्टाएँ न करें और साथ ही इस बात का भी ध्यान रखें कि जब प्रत्येक पदार्थ खाने योग्य अपने घर में उपलब्ध हो सकता है तो फिर क्यों बाजारादि से लाकर खाने का स्वभाव डालें। क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि बाजारादि के पके हुए पदार्थ घृतादि की शुद्धि न होने के कारण से रोगादि की उत्पत्ति का कारण बन जाते हैं जिससे एक बार का बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य बहुत चिरकाल के पश्चात ठीक होने का कारण बन जाता है।

जब बाजारादि का खाने का स्वभाव हट जायगा तब व्यर्थ व्यय और व्यभिचारादि बहुत से कुकृत्यों से भी बचने का सौभाग्य प्राप्त होजायगा।

पुत्रः—पिताजी ! यह तो आपने सदाचार के इहलौकिक के नियम बतलाये हैं जिनके पालने से प्रायः शारीरिक दशा ठीक रह सक्ती है। अब आप उन नियमों की

शिक्षा कीजिये कि जिनके पालन से दोनों लोक में सुख की प्राप्ति होजाती है।

पिताः—मेरे परम प्रिय पुत्र! अब मैं तुमसे उन्हीं नियमों का वर्णन करता हूं कि जिनके पालनेसे दोनों लोक में शांति मिल सक्ती है।

प्रत्येक बालक को सात व्यसनों का परित्याग करना चाहिये क्योंकि व्यसन नामही कष्ट का है सो सात कारण कष्ट के उत्पन्न होने के बतलाये गए हैं जैसे किः—

१ जुवाः—किसी प्रकार का भी जुआँ न खेलना चाहिये। क्योंकि इसका फल दोनों लोक में दुःखप्रद कथन किया गया है। तथा इसी लोक में जुआरी कौन २ से कष्टों का सामना नहीं करता? अर्थात् सभी कष्ट जुआरी को भोगने पड़ते हैं। सो अनुमान से अनुमेय का ज्ञान हो जाता है। अतः जिसका फल जहां पर दुःखप्रद ही दिख रहा है तो फिर वह परलोक में सुखप्रद किस प्रकार माना जा सक्ता है।

तथा जुआँरी कौन से अकार्य करने की चेष्टा नहीं करता? अतएव जुआँ कदापि न खेलना चाहिये।

साथही इस बात का ध्यान भी रक्खा जाय कि जिन २ क्रीड़ाओं के खेलने से केवल समय ही व्यर्थ जाता हो वे खेल न खेलने चाहिये। जैसे किः—चोपड, तास, सार,

पासादि। क्योंकि इनके खेलने से समय तो व्यतीत अत्यंत होजाता है परंतु लाभ कुछ नहीं होता।

२ **मांसः**—जिन पदार्थों के खाने से निर्दयता बढ़ती हो और अनाथ प्राणि अपने प्रिय प्राणों से हाथ धो बैठते हों इस प्रकार के पदार्थ भक्षण न करने चाहिये।

क्योंकि यह बात भली प्रकारसे मानी हुई है कि मांसाहारी को दया कहां है ? तथा मांसाहार रोगों की वृद्धि भी करता है और न यह (मांसाहार) मनुष्य का आहार ही है।

क्योंकि जो पशु मांसाहारी हैं और जो पशु घासाहारी हैं तथा पशु व मनुष्य इन के शरीरोंकी आकृतियों में विभिन्नता प्रत्यक्ष दिखाई पडती है। सो मांस का आहार कदापि न करना चाहिये।

३ **शिकारः**—निरपराधी जीवों को मारते फिरते रहना क्या योग्यता का लक्षण है ? कदापि नहीं। इसलिये शिकार न खेलना चाहिये। इतना ही नहीं हांसी या कौतुहल के वशीभूत होकर भी किसी जीव के प्राण न छीनने चाहिये।

पुत्रः—पिताजी ! जो अपने वस्त्रों या केशों में जूं आदि जीव पड जाते हैं तो क्या उनको भी न मारना चाहिये ?

पिताः—पुत्र ! उनको भी न मारना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी वे जीव तो हमें दुःख देते हैं फिर उन्हें क्यों न मारना चाहिये।

पिताः—पुत्र! वे जीव अपनी असावधानी के कारण से ही प्रायः उत्पन्न होते हैं तो भला यह किधर का न्याय है कि प्रमाद तो आप करें और दंड इन जीवों को ? इससे स्वतः सिद्ध है कि यदि सब काम सावधानता पूर्वक किये जाँय तो जीवोत्पत्ति वहुत ही स्वल्प होती है। इसलिये जूं आदि जीवों को कदापि न मारना चाहिये। परंतु यत्न पूर्वक जिस प्रकार उनके प्राणों की रक्षा हो सके उसी प्रकार अन्य वस्त्रादि में उन्हें रख देना चाहिये ?

पुत्रः—पिताजी! जूं आदि के कहने से मैं यह नहीं समझा कि आदि के कहने से आपका कौन २ से जीवों से सम्बन्ध है ?

पिताः—पुत्र! आदि के कहने में यावन्मात्र त्रसजीव हैं। उन सबों का गृहण किया जाता है। सो, निरपराधी किसी भी जीव के जानकर प्राण न छीनने चाहिये।

क्योंकि जब दयायुक्त भाव बने रहेंगे तब प्राणी सद्विद्या और सदाचार से विभूपित होता हुआ अपने और परके कल्याण करने में समर्थ हो जायगा।

यद्यपि शिकार (आखेट) शब्द वनचारी जीवों के लिये ही लोक रूढि से व्यवहृत होता है किंतु किसी भी जीव के प्राणों का उच्छेदन करना इसी कर्म में गिना जाता है।

अतएव सिद्ध हुआ कि शिकार न खेलना चाहिये।

४ **मद्यः**—मदिरा पान करना भी अयोग्य कथन किया गया है क्योंकि यावन्मात्र मादक द्रव्य हैं वे सब सद्बुद्धि के विध्वंस के हेतु ही माने जाते हैं। अतएव सुयोग्य व्यक्तियों को योग्य है कि वे मादक द्रव्यों का कदापि सेवन न करें।

मदिरा पान के दोष लोक में सुप्रसिद्ध ही हैं। भांग चरस, तमाखू, सिगरेट सिगार आदि यावन्मात्र तमोगुणी पदार्थ हैं उनका सेवन करना दोनों लोक में दुःखप्रद माना गया है। क्योंकि इस लोक में इन के सेवन से धन का नाश तथा कदाचार की प्रवृत्ति देखी जाती है और परलोक में निकृष्ट कर्मों का फल दुःखप्रद होता ही है।

अतएव यावन्मात्र तमोगुणी और मादक द्रव्य हैं उनका सेवन कदापि न करना चाहिये।

५ **वेश्याः**—जिस प्रकार जगत में मादक द्रव्य हानि करते दिखाई देते हैं ठीक उसी प्रकार वेश्या संग भी इस लोक और परलोक में दुःखप्रद माना गया है।

तथा यह बात भी भली प्रकार से मानी गई है कि जो व्यक्ति वैश्या संग करते हैं उनकी पवित्रता और सदाचारता सर्वथा नष्ट हो जाती है। साथही वे नाना प्रकार के रोग भी उस स्थान से ले आते हैं। बहुत से व्यक्तियों का जीवन भी कष्ट-मयी हो जाता है और फिर वे अपने पवित्र जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं।

अब विचार इसी बातका करना है कि जब उनका पवित्र जीवन वैश्या संग से इसी लोक में कष्टमय होता है तो भला परलोक में वे सुखमय जीवन के भोगने वाले कब माने जा सक्ते हैं।

अतएव वैश्या संग कदापि न करना चाहिये।

६ परस्त्री संगः—जिस प्रकार वैश्या संग दोनों लोक में दुःखप्रद माना गया है ठीक उसी प्रकार परस्त्री संग भी दोनों लोक में कष्ट देनेवाला माना गया है। इसके संग का परिणाम सर्वत्र सुप्रसिद्ध है तथा परदारा सवी को जिन २ कष्टों का सामना करना पडता है वे कष्ट जनता से भूले हुए नहीं हैं क्योंकि राज्यकीय धाराएं इन्हीं पापों के सेवन करने वालों के लिये बनाई गई हैं। साथही शास्त्रों में परदारा सेवी की गति नरकादि प्रतिपादन की गई है। अतएव विचार-शील व्यक्तियों को योग्य है कि वे कदापि उक्त व्यसन का का संग न करें।

७ **चौर्य कर्मः**—बिना आज्ञा किसी की वस्तु को उठा लेना उसे ही चोरी कर्म कहते हैं। सो इसका परिणाम सब लोग जानते ही हैं। अतएव बिना आज्ञा किसी भी पदार्थ के उठाने की इच्छा न करनी चाहिये।

साथ में इस बातका भी ध्यान रखना चाहिये कि जब अपने साथ में वस्तु का संयोग है तो भले सहस्रों ही विघ्न उपस्थित क्यों न होजायं तदपि उस पदार्थ का संयोग अवश्यमेव मिल जायगा। किंतु जब अपने भाग्य में पदार्थों का संयोग नहीं है तो फिर चौर्य कर्म से क्या फल मिलेगा? अर्थात कष्ट। अतएव स्वकीय पुण्य और पाप के फलों का विचार कर उक्त व्यसन से निवृत्ति कर लेनी चाहिये।

अतएव हे पुत्र! उक्त कथन किये हुए सात ही व्यसनों से प्रत्येक प्राणी को पृथक रहना चाहिये जिससे दोनों लोक में सुख की प्राप्ति हो सके।

पुत्रः—पिताजी, वाणी कैसी बोलनी चाहिये?

पिताः—हे पुत्र! वाणी सदा मीठी और सत्य बोलनी चाहिये!

पुत्रः—पिताजी! सत्य वचन बोलने से किस गुण की प्राप्ति होती है?

पिताः—पुत्र! सत्य बोलने से एक तो आत्मा का हृदय शुद्ध हो जाता है दूसरे छल आदि क्रियाओं से

आत्मा बच जाता है तृतीय सत्यवादी आत्मा की देवता भी सेवा करते हैं और लोक में उनकी प्रतीत (विश्वास) होजाती है। अतएव सदा सत्य वचन बोलना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी! भाइयों के साथ परस्पर वर्ताव कैसा रखना चाहिये?

पिताः—मेरे प्रिय सुनु! अपने भाइयों के साथ परस्पर प्रेम पूर्वक वर्ताव रखना चाहिये। परस्पर ईर्षा वा असूया कदापि न करना चाहिये। जब कोई समय कष्ट का उपस्थित होजाय तब परस्पर सहानुभूति द्वारा उस समय को व्यतीत करना चाहिये। क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि जब कष्ट का समय उपस्थित होता है तब परस्पर क्लेश भी उत्पन्न हो जाया करता है किंतु जब प्रेम परस्पर रहता है तब वह कष्ट भी कष्ट दायक प्रतीत नहीं होता। सो इससे सिद्ध हुआ कि भाइयों के साथ परस्पर प्रेम से वर्तना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी! मित्रों के साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये।

पिताः—पुत्र! मित्रता प्रायः साधर्मी या सदाचारियों के साथ ही होनी चाहिये और उसके साथ प्रेमसे

वर्तना चाहिये. तथा जिस प्रकार मित्रता परस्पर रह सके उसी प्रकार वर्तना चाहिये ये बात भी ध्यान में रखनी चाहिये। लोभी और कामी मित्रता कभी भी नहीं रह सक्ती।

पुत्रः—पिताजी ! क्या मित्र पर विश्वास रखना चाहिये या नहीं ?

पिताः—पुत्र ! बिना विश्वास किये यह मित्रता ही क्या है ! हां, विश्वास उस समय तक न होना चाहिये जबतक मित्र की परीक्षा नहीं कीगई तथा उसका परिचय भली प्रकार से नहीं किया गया। परंच जब वह परीक्षा में समुत्तीर्ण हो चुका है फिर वह विश्वासपात्र अवश्य-मेव बनगया है।

तथा इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि मित्रता स्वार्थत्याग कर ही रह सक्ती है और निःस्वार्थ मित्रता आयु पर्य्यंत रह सक्ती है। अपने किये हुए प्रण का पालन करना ही सुपुरुषों का लक्षण है।

पुत्रः—पिताजी ! धर्मपत्नी के साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये ?

पिताः—पुत्र ! धर्मपत्नी के साथ मर्यादा और प्रेम पूर्वक वर्तना चाहिये। जिस प्रकार स्वगृह में क्लेश उत्पन्न

न हो जावे उसी प्रकार वर्तना चाहिये। विवाह के समय जो वर और कन्याओं की परस्पर प्रतिज्ञाएं की जाती हैं उन प्रतिज्ञाओं की सावधानता पूर्वक पालन करना चाहिये। साथ में इस बात का भी विशेष ध्यान रक्खा जाय कि जब में स्वधर्मपत्नी को कदाचार से बचने की विषेश चेष्टाएं करता रहता हूं तो फिर मुझे भी उस कदाचार से पृथक रहना चाहिये। क्योंकि जब मेरा सदाचार ठीक होगा तब उसका प्रभाव मेरी धर्मपत्नी पर अवश्यमेव पड़ेगा।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि स्वधर्मपत्नी के साथ मर्यादा वा प्रमाण पूर्वक ही वर्तना चाहिये। तथा जिस प्रकार परस्पर क्लेश वा स्वच्छंदता न बढने पाय उसी प्रकार वर्तना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी! संतती के साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये।

पिताः—मेरे परम प्रिय पुत्र। अपनी संतति के साथ प्रेम से वर्तना चाहिये। परंतु इस बात का ध्यान अवश्यमेव रक्खा जाय कि जिस प्रकार अपनी संतति कदाचार में प्रविष्ठ न होजाय उसी प्रकार सुज्ञ पुरुषों को उनके साथ वर्तना योग्य है। परंतु अपने प्रिय पुत्र या कन्याओं को कभी भूलकर भी गाली के

साथ आमंत्रित न करना चाहिये। क्योंकि जब उनको गाली से सम्बोधित किया जायगा तब उनका भी उसी प्रकार का स्वभाव पड़ जायगा जिसका परिणाम अंतिम दुःख-प्रद प्रतीत होगा। अर्थात फिर उस पुत्र वा पुत्री के स्वभाव से परम दुःखित बनना पड़ेगा।

पुत्रः—पिताजी। जो अपने सम्बन्धी जन हैं उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार रखना चाहिये।

पिताः—पुत्र! उनके साथ सद्व्यवहार रखना चाहिये। यदि उन सम्बन्धीजनों पर कोई विपत्तिकाल उपस्थित होजाय तो यथाशक्ति और यथा समय उनकी सहायता करनी चाहिये। किंतु यह बात ध्यान में अवश्य रक्खी जाय कि सहायता अपनी शक्ती अनुसार करते हुए फिर उनमें वैमनस्य भाव उत्पन्न न किया जाय।

पुत्रः—पिताजी! अपने [गण] बिरादरी के साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये?

पिताः—पुत्र! गण के साथ परस्पर सहानुभूति के साथ वर्तना चाहिये। यदि गणवासी किसी भाई पर विपत्तिकाल उपस्थित होगया हो तो उस समय

सहानुभूति द्वारा उसकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि इस प्रकार करने से गण के बल की वृद्धी होती है और सहानुभूति द्वारा प्रेम मात्रा भी बढ जाती है जिसके कारण से फिर सर्व प्रकार की वृद्धि होती रहती है ।

पुत्रः–पिताजी ! बडा कौन हो सक्ता है ?

पिताः–हे पुत्र ! जो सर्व प्राणी मात्र के साथ प्रेम करता है वह सब से बडा होसक्ता है अर्थात् वह सब का पूजनीय होजाता है । तथा व्याकरण शास्त्र में लिखा है कि स्ववर्णीय वर्ण ही दीर्घ होसक्ता है नतु अन्य वर्णीय । जैसे कि:—यदि अ अ दो स्वर एक स्थान पर एकत्र होजांय तब दोनों का मिलकर एक दीर्घाकार होजाता है । इसी प्रकार इकार और उकारादि वर्णों के विषय में भी जानना चाहिये । सो हे पुत्र ! इसके कथन से यह शिक्षा उपलब्ध होती है कि स्वजाति प्रेम से ही वृद्धि पासक्ती है ।

पुत्रः–पिताजी । अपने सहपाठियों के साथ किस प्रकार से बर्ताव रखना चाहिये ।

पिताः–पुत्र । अपने सहपाठियों के साथ सदाचार से युक्त प्रेम पूर्वक वर्तना चाहिये । अपितु परस्पर निंदा,

पिशुनता, द्रोह भाव, व असूयादि अवगुण कदापि वर्त्ताव में न लाना चाहिये। किन्तु जिस प्रकार विद्याभ्यास बढता जाय उसी प्रकार उनके साथ वर्तना योग्य है।

पुत्रः-पिताजी ! अपने अध्यापकों और महोपाध्यायों के साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये ?

पिताः-पुत्र ! अपने अध्यापकों और महोपाध्यायों के साथ विनय पूर्वक वर्तना चाहिये और पठनादि क्रियाओं के विषय में उनकी आज्ञा पालन करनी चाहिये। इतना ही नहीं किन्तु उनको विद्या गुरु वा शिल्पाचार्य समझते हुए उनकी मन, वचन और काय तथा धनादि द्वारा उनकी सेवा (पर्युपासना) करनी चाहिये। और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये।

पुत्रः—पिताजी ! यावन्मात्र अपने सम्बन्धी हैं या भगिनी और भ्राता आदि हैं उनके साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये।

पिताः—हे प्यारे पुत्र ! यावन्मात्र स्वकीय सगे सम्बन्धी हैं उनके साथ प्रेमपूर्वक और मर्यादा से वर्तना चाहिये। परस्पर विनय से वर्ताव रखते हुए प्रत्येक कार्य की

सफलता देखी जाती है तथा उनके कष्टों के समय सहानुभूति भली प्रकार से दिखलाते हुए अहिंसा धर्म की प्रभावना भी की जासक्ति है। अतएव सिद्धांत यह निकला कि उचित व्यवहार रखते हुए सर्व कार्यों की सफलता भली प्रकार से की जा सक्ती है।

पुत्रः—पिताजी ! जनता के साथ किस प्रकार से वर्तना चाहिये ?

पिताः—पुत्र ! देश वा कालके ज्ञान को भली प्रकार रखते हुए जनता के साथ प्रेम वा मर्यादा पूर्वक वर्तना चाहिये परन्तु मिथ्या हठ वा कदाग्रह कदापि न करना चाहिये क्योंकि जो लोग देश के काल के ज्ञान को भली प्रकार से नहीं जानते वा कदाग्रही हैं वे कदापि जाति वा धर्मोन्नति नहीं कर सक्ते। अतएव सिद्ध हुआ कि मिथ्या हठ को छोडकर केवल देश कालज्ञ बनना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी ! सद्विद्या किसे कहते हैं !

पिताः—जिस विद्या के पढने से पदार्थों का ठीक २ बोध होजाय।

पुत्रः—पिताजी ! पदार्थों के ठीक २ बोध हो जाने से फिर किस गुण की उपलब्धि होती है ?

पिताः—पुत्र ! पदार्थों के ठीक २ बोध होजाने से फिर तीन गुण की प्राप्ति हो जाती है।

पुत्रः—पिताजी ! वे तीन गुण कौन २ से हैं ? क्योंकि मैं उनको सुनना चाहता हूं।

पिताः— हे मेरे परम प्रिय सुनु ! यदि तू सुनना चाहाता है तो तू सुन। जानने योग्य पदार्थ, त्यागने योग्य पदार्थ और धारण करने योग्य, इन पदार्थों का यथार्थ बोध होजाता है।

पुत्रः—पिताजी ! मैं इन तीनों का स्वरूप विस्तार पूर्वक सुनना चाहाता हूं।

पिताः—पुत्र ! मैं तुम को फिर कभी अवकाश मिलने पर इसका विस्तार पूर्वक स्वरूप सुनाऊंगा परंतु अब तो मैं संक्षेप पूर्वक ही इनका स्वरूप सुनाना चाहता हुं सो तू ध्यान देकर सुन। जीव और अजीव तथा पुण्यरूप कर्म को इन तीन पदार्थों के स्वरूप को भली भांति जानना चाहिये। क्योंकि जब इनका यथार्थ ज्ञान होजायगा तब आत्मा सम्यक्त्व से युक्त होजाता है। अतएव ये तीनों पदार्थ ज्ञेय—जानने योग्य कथन किये गये हैं। परंतु पाप आश्रव और बंध ये तीनों पदार्थ त्यागने योग्य हैं। कारण कि

पाप कर्म और आश्रव जिसके द्वारा पाप कर्मों का आगमन हो तथा बन्ध जिससे आत्म प्रदेश कर्मों से क्षीर नीरवत एक रूप होजायं ये तीनों पदार्थ त्यागने योग्य हैं किन्तु जिससे कर्मों का आगमन बंद होजाय अर्थात् सम्वर और निर्जरा जिससे कर्म क्षय किये जासकें और मोक्ष ये तीनों पदार्थ धारण करने योग्य हैं।

इसलिये सद्विद्याओं द्वारा उक्त पदार्थों का बोध अवश्य करना चाहिये जिससे आत्मा अपना कल्याण भी कर सके।

पुत्रः—पिताजी! क्या इन पदार्थों के जानने से गृहस्थाश्रम का पालन भी हो सक्ता है?

पिताः—पुत्र! युक्ति से कार्य किया हुआ गृहस्थाश्रम का सुख पूर्वक निर्वाह कर सक्ता है।

पुत्रः—पिताजी! ये भी मुझे समझा दीजिये कि युक्ति पूर्वक किस प्रकार गृहस्थाश्रम का पालन किया जासक्ता है।

पिताः—पुत्र! जिन-जिन कामों में अधिक हिंसादि क्रियाएं लगती हों उनका और अनर्थादंड का परित्याग करके गृहस्थाश्रम सुख पूर्वक निर्वाह किया जासक्ता है। जैसे कि:—स्वदेशी आहार, स्वदेशी औषध और

स्वदेशी वेषादि द्वारा सुख पूर्वक निर्वाह करते हुए गृहस्थाश्रम के सुख पूर्वक नियम पालन किये जासक्ते हैं।

पुत्रः—पिताजी! उक्त तीनों के अर्थ मुझे समझा दीजिये।

पिताः—पुत्र! ध्यान देकर सुन। हे मेरे परम प्रिय पुत्र! जिस देश के जल, वायु और पदार्थों के संयोग से शरीर की उत्पत्ति होती है फिर प्रायः उसी देश के स्वच्छ पदार्थों के सेवन (आहार) से शरीर की सौंदर्यता तथा बल की वृद्धि सुखकर होती है इसलिये स्वदेशी पदार्थों के आहार से अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिये। साथ ही जिन पदार्थों के आसेवन से क्षण मात्र तो सुख प्रतीत होने लगे परन्तु उनका अंतिम परिणाम हितकर न होवे तो वे पदार्थ स्वदेश में उत्पन्न होने पर भी सेवन के योग्य नहीं हैं। जैसे किः—उष्ण काल में बहुत से लोग पानी के बर्फ का सेवन करते हैं सो इसका सेवन दोनों प्रकार से अयोग्य प्रतीत होता है जैसे किः—जब धर्म शास्त्रों के नियमों की ओर विचार किया जाय तब भी इसका सेवन करना योग्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि धर्मशास्त्र जल को ही जीव मानता है। जब जल का पिंड सेवन किया गया तब तो विशेष हिंसा का कारण बनगया इसलिये इसका सेवन करना योग्य नहीं है।

तथा दूसरे जिन औषधियों के प्रयोग से जल जमाया जाता है वे औषधियां रोगों के निवारण करने में सहायक नहीं होतीं अतः इसके सेवन से क्षणमात्र के सुख के सिवाय किसी प्रकार से भी शांति की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिये सुज्ञ पुरुषों को योग्य है कि वे इसका सेवन कदापि न करें।

इसी प्रकार सोडावाटर की शीशियों के विषय में भी जानना चाहिये। इनका सेवन भी सुख प्रद नहीं देखा जाता क्योंकि रुक्ष पदार्थों के सेवन से मन की शुद्ध वृत्तियां नहीं रह सक्तीं। जब मनकी वृत्तियां ठीक नहीं रहीं तो बतलाइये फिर कौनसा दुःख है जो फिर अनुभव नहीं करना पडता ?

इसी प्रकार विदेशी खांड, विदेशी घृत इत्यादि अनेक प्रकार के पदार्थ हैं जो भक्षण करने के लिये स्वदेश में उपस्थित हैं उन सब से बचकर स्वदेशोत्पन्न सतोगुणयुक्त आर्य आहार द्वारा अपने पवित्र शरीर की पालना करना चाहिये।

जैसे कि कल्पना करो कि एक व्यक्ति पवित्र गोदुग्ध के द्वारा निर्वाह करता है और एक मदिरा पान द्वारा अपना पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहता है सो इसका परिणाम पाठकों पर ही छोडते हैं कि वे स्वयं निर्णय करें कि किसका जीवन सुख पूर्वक व्यतीत हो सकेगा ?

अतएव सिद्ध हुआ कि आर्य और भक्ष्य आहारादि के सेवन से सुख पूर्वक शरीरादि की रक्षा और धर्म का पालन किया जासक्ता है।

जिस प्रकार आर्य और भक्ष्य आहारादि द्वारा धर्म पूर्वक निर्वाह होसक्ता है ठीक उसी प्रकार स्वदेशी औषध के सेवन की भी अत्यंत आवश्यक्ता है। क्योंकि जिस प्रकार स्वदेशी आहार शरीर की रक्षा में उपयोगी मानागया है ठीक उसी प्रकार स्वदेशी औषध भी शरीर की रक्षा में परम उपयोगी कथन किया गया है। कारण कि जिस देश के जल वायु के सहारे जीवन व्यतीत किया जाता है ठीक उसी देश में उत्पन्न हुए औषध भी शरीर को हितकारी माने गए हैं।

प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि स्वदेशी औषध के विना विदेशी औषध के सेवन से भक्ष्य और अभक्ष्य तथा पवित्रता और अपवित्रता का भी विवेक नहीं रह सक्ता। वा सर्वथा प्रायः मूल से रोग की निवृत्ति भी वे औषधि नहीं कर सक्ती। इसी कारण से प्रायः जिस प्रकार औषधियां वढगई हैं उसी प्रकार रोग भी वृद्धि को प्राप्त होते जा रहे हैं।

क्योंकि स्वदेशी भोजन ही प्रमाण पूर्वक किया हुआ रोगों के शान्त करने में समर्थता रखता है। तो भला फिर स्वदेशी औषधि का तो कहना ही क्या है ?

पुत्रः—पिताजी ! जब स्वदेशी औषध परम गुण कारक मानी गई है तो फिर लोग इस औषध का विशेष आदर क्यों नहीं करते ?

पिताः—हे प्यारे पुत्र ! स्वदेशी औषध अधिक गुण युक्त होने पर भी स्वदेशी वैद्यों ने वा स्वदेशी औषध बेचने वालों ने इसके महात्म्य को प्रायः खोदिया है। जैसे किः—प्रथम तो जिस प्रकार से औषध बनाने की विधि लिखी है, प्रायः साधनों के अभाव वा प्रमाद के कारण से औषध उस विधि से तैयार ही नहीं किया जाता, सो जब उस बनाने की विधि में त्रुटि रह गई है तो फिर भला उस औषध का सेवन करना शुभ फल प्रद किस प्रकार माना जा सक्ता है ?

तथा यदि सुयोग्य वैद्यों द्वारा तथा उस औषध के सम्पूर्ण साधनों द्वारा उसका बनाना तो ठीक किया गया है परंतु जो लोग (पसारी) देशी औषधि को बेचते हैं उन लोगों ने लालच के वशीभूत होकर जब औषध के बल का समय व्यतीत होगया है अर्थात वे औषधि प्राचीन हो गई हैं तथा अपने बलसे प्राय; रहित हो गई हैं फिर भी वे लोग औषध के बेचने से पीछे नहीं हटते हैं अर्थात् बेचते ही जाते हैं। अब विचारनेकी बात है कि जब उस औषध में बल ही नहीं रहा तो भला फिर उस औषध के सेवन से किस लाभ की संभावना की जा सके।

सो इसी कारण से स्वदेशी औषध का माहात्म न्यून हो गया है तथा जो प्रकृति के प्रतिकूल औषध हैं उसका परिणाम क्षणमात्र तो सुख प्रद देखा जाता है परंतु प्रायः वह औषधी जड से रोग को उखाडने में अपनी असमर्थता रखती है।

जिस प्रकार दीर्घ ज्वर से पीडित कोई व्यक्ति जल, जल ही पुकारता है और यदि वह इच्छानुसार जलपान भी कर लेवे फिर उसको क्षण मात्र तो शांतिसी प्रतीति होने लगती है। परंतु क्षणमात्र के पश्चात् उसकी फिर पूर्ववत् ही दशा होजाती है।

ठीक उसी प्रकार प्रकृति के प्रतिकूल औषध की भी यही दशा जाननी चाहिये।

अतएव हे प्यारे पुत्र! प्रथम तो आर्य आहारादि द्वारा प्रायः रोगही उत्पन्न नहीं हो सक्ते। क्योंकि जब देश वा काल के अनुसार विधि पूर्वक आहारादि क्रियाएं की जाती हैं तो भला फिर रोग की उत्पत्ति ही कैसे हो सक्ती है?

भला किसी कारण से उसे रोग उत्पन्न हो ही गया तो फिर उसको औषध को छोडकर उपवास (व्रत) आदि करना चाहिये। क्योंकि उपवासादि के करने से प्रायः कष्ट साध्य रोग भी उपशांत हो सक्ते हैं।

तथा जो लोग रोगी को बलात्कार से भोजनादि क्रियाओं के कराने की चेष्टाएं करते हैं वे बडी भूल करते हैं। क्योंकि उनके मनमें यह बात बसी होती है कि रोगी को कुछ खा लेने से शक्ति आजायगी परंतु वे इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि जब रोगी को शक्ति आजावेगी तो फिर क्या रोग को शक्ति नहीं आयगी अर्थात् अवश्यमेव आयगी।

अर्थात् जो रोग दस दिन में शांत होता होगा वह मास भर में भी शांत हो या न हो।

इसलिये रोग की दशा में उपवास करना अत्यंत लाभप्रद माना गया है तथा उपवास चिकित्सादि ग्रंथों में उपवासादि क्रियाओं का बड़ा महात्म दिखलाया गया है।

बड़े से बड़े रोग भी बहुत से रोगियों ने उपवासादि द्वारा शांत किये हैं।

अतएव लेख का सारांश इतनाही है कि विशेप औषधियों के वश न पड़ते हुए केवल उपवासादि द्वारा ही रोगको शांत कर लेना चाहिये।

जिस प्रकार स्वदेशी औषधी हितकर है ठीक उसी प्रकार स्वदेशी वेष की भी अत्यंत आवश्यक्ता है क्योंकि स्वदेशी वस्त्र एकतो शुद्ध होता है और दूसरे चलने में विदेशी वस्त्र की अपेक्षा से अधिक समय पर्य्यंत चल सक्ता है।

क्योंकि बहुत से विद्वानों का कथन है कि विदेशी वस्त्रों में बहुत से अपवित्र पदार्थों का प्रयोग किया जाता है।

अतः स्वदेशी वस्त्रमें प्रायः अपवित्र पदार्थों का प्रयोग नहीं किया जाता तथा स्वदेश का व्यय भी न्यूनतर होता है अतएव हे मेरे प्यारे पुत्र! स्वदेशी वेष या स्वदेशी वस्तुओं का देश हित के लिये अवश्यमेव प्रयोग करना चाहिये।

क्योंकि विद्वानों का कथन है कि जिस व्यक्ति का स्वदेशी पदार्थों से प्रेम नहीं है, वह व्यक्ति स्वभूमि का शत्रु माना जाता है।

तथा यदि पवित्र जीवन बनाना चाहते हो वा साधा जीवन व्यतीत करना चाहते हो तथा देश वा धर्मका अभ्युदय चाहते हो तो स्वदेशी पदार्थों का सेवन करना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी! यदि स्वदेशी पदार्थ किसी प्रकार की सजावट न कर सकें तो क्या फिर विदेशी पदार्थों का भी सेवन न करना चाहिये?

पिताः—मेरे परम प्रिय पुत्र! निर्वाह करने में तो कोई पदार्थ बाधाजनक नहीं माना जासक्ता। किन्तु तृष्णा की पूर्ति के लिये स्वदेशी या विदेशी पदार्थ कोई भी अपनी सामर्थ्यता नहीं रखता। तथा जैन शास्त्रों के देखने से निश्चित होता है कि छट्टे दिग्व्रत

वा देशावगाशिक व्रत का मुख्योपदेश स्वदेशी पदार्थों का सेवन करनाही है। अतएव सर्व सुज्ञ जनों को योग्य है कि वे संवर व्रत के आश्रित होकर स्वदेशी पदार्थों के सेवन से अपने जीवन को पवित्र बनावें जिससे सुगति के अधिकारी बन जावें। साथही इस बात का भी ध्यान रहे कि जिस देश में जिसका जन्म हुआ हैं उसी देश का उसके लिये प्रायः जल वायु आदि हितकर होते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह अपने उत्पन्न हुए देश के सम्बन्ध का यथाविधि पूर्वोक्त उपदेश का ध्यान रक्खे।

पाठ बारहवाँ।

कुप्रथाएँ।

प्रिय मित्रों ! सुमार्ग में चलने से ही प्रत्येक प्राणी सुखों का अनुभव कर सक्ता है। जिस प्रकार धूम्र शकटी (रेलगाड़ी) (वाष्प शकटी) स्वकीय रेखा (लेन) पर चलती हुई अपने अभीष्ट स्थान पर सुख पूर्वक पहुंच जाती है, ठीक उसी प्रकार जो व्यक्ति सुमार्ग पर चलता है वह सुख पूर्वक निर्वाण मार्ग पर आरूढ हो ही जाता है।

यदि वह घूम शकटी स्वगमन स्थान से स्खलित हो जावे तब वह अपनी वा जो उसपर आरूढ हो रहे हैं उन सबों की हानि करने की कारणीभूत बन जाती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति कुमार्गगामी होता है वह अपना या उसके अनुकरण करने वालों का सबका नाश करने का कारणभूत हो जाता है। क्योंकि कुमार्ग उसी का नाम है जिसपर चलते समय अनेक विपत्तियों का सामना करना पडे। अन्त में विपत्तियों में फंसकर विपत्तिरूप ही होना पड़े।

सुमार्ग उसी को कहते हैं कि जिसपर सुखपूर्वक गमन करते हुए अभीष्ट स्थान पर पहुंचा जाय। ठीक इसी प्रकार आत्मा भी सुमार्ग पर चलता हुआ स्वकीय अभीष्ट स्थान निर्वाण होजाता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनुष्यों के सुमार्ग या कुमार्ग कौन २ से हैं जिन्हों पर चलने से आत्मा सुख या दुःखों का ठीक २ अनुभव कर सक्ता है और किस प्रकार आत्मा आत्म–विकास कर सकता है।

इस प्रकार की शंकाओं का समाधान इस प्रकार से किया जाता है कि जिस प्रकार साधुवृत्ति में उत्सर्ग वा अपवाद मार्ग कथन किये गए हैं और उक्त दोनों मार्गों के आश्रित होकर साधु अपना कल्याण कर सक्ते हैं ठीक उसी प्रकार गृहस्थों के व्रतों में भी उक्त दोनों मार्ग लागू पडते हैं

परंतु जो दोनों मार्गों का उलंघन कर चलते हैं उन्हें कुप्रथाएं वा कुमार्गगामी कहा जाता है जैसे किः—

वृद्ध-विवाहः—गृहस्थाश्रमवाले आत्मा गृहस्थावासमें निवास करते हुए विवाह आदि संस्कार किया ही करते हैं किंतु जो अनुचित वा व्यवस्था से विपरीत वृद्ध विवाहादि होते हैं वे गृहस्थाश्रम के विध्वंसक माने जाते हैं क्योंकि उनके द्वारा जो २ विपत्तियाँ कुल में उत्पन्न होती हैं वे लोगों की दृष्टी से बाहिर नहीं है। तथा समभाव द्वारा यदि विचार कर देखा जाय कि जिस प्रकार एक साठ वर्षीय वर (वृद्ध) दश वर्षीय कुमारी के साथ वेद मंत्रों द्वारा विवाह कर प्रसन्न होता है यदि इसके विपरीत साठ वर्षीय बुढिया एक दश वर्षीय कुमार के साथ विवाह करे तो क्या वह अपने मन में प्रसन्न न होगी? जिस प्रकार उस बुढिया के विवाह का लोग उपहास करने लगेंगे तो क्या लोग उस वृद्ध के विवाह का उपहास नहीं करेंगे? अतएव वृद्धविवाह-जाति, कुल व धर्म का विध्वंसक है और व्यभिचार के मार्ग को खोलने वाला है, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को इसका प्रतिवाद करना चाहिये।

इसी प्रकार जाति धर्म के नियमावली में इसके विरोध के लिये दण्ड नियत कर देना चाहियें जिससे इसका प्रत्येक गण (बिरादरी) से वहिष्कार किया जा सके। क्योंकि जब

कन्या अपने यौवन के पथ पर पाद (पग) रखने लगती है तब वह वृद्ध अपनी परलोक यात्रा के लिये प्रस्तुत होने लगता है। उसके पश्चात् जो उस कन्या की वा युवती की दशा होती है वह सब के समक्ष है इसलिये उसके दिग्दर्शन कराने की आवश्यक्ता प्रतीत नहीं होती।

अतएव प्रत्येक जाति से वृद्ध विवाह का बहिष्कार किया जाना चाहिये।

कन्या विक्रयः—जिस प्रकार वृद्ध विवाह धर्म, जाति या देश की हानि करने वाला बतलाया गया है ठींक उसी प्रकार कन्या विक्रय कृत्य भी हानि कारक कथन किया गया है।

जो लोग महा लालची हैं वे लोभ के वशीभूत होकर अपनी प्यारी कन्याओं को बेचकर अयोग्य व्यक्तियों को समर्पण कर देते हैं जिससे उन बालिकाओं को फिर नाना प्रकार के कष्टों का सामना करना पडता है कारण कि अयोग्य व्यक्तियां समझती हैं कि हमने यह पदार्थ मोल लिया है, इसलिये जिस प्रकार हम चाहें इसके साथ बर्ताव कर सके हैं।

सो इसी आशा से प्रेरित होकर फिर वे उन बालिकाओं के साथ राक्षसी व पैशाचकी व्यवहार करने लग जाते हैं

परन्तु वे वालिकाएं निराश्रित अपने आपको समझती हुई उन पैशाचकी व्यवहारों को सहन किये जाती है जिसका परिणाम धर्म या जाति अभ्युदय के लिये अत्यंत वाधा जनक देखा जाता है। अतएव दया-धर्म के मानने वालों को योग्य है कि इस अत्याचार को अपने २ गण से वाहिर करने की चेष्टाएं करें। क्योंकि विरादरी के मुखिया इसलिये होते हैं कि यदि कोई व्यक्ति स्वच्छंदता पूर्वक कोई काम करने लगे तो उसका प्रतिवाद करते हुए उसको शिक्षित करें।

जव गण के स्थविर इस ओर लक्ष्य ही न दें तो भला फिर गणोन्नति या जाति सेवा तथा जाति रक्षा किस प्रकार रह सक्ती है?

आवश्यक सूत्र के गृहस्थ के ७ वें व्रत में "केश वाणिज्य" के पाठ से श्री भगवान ने इस कृत्य को कर्मादान के नाम से वतलाकर इसके छोडने का उपदेश दिया है। सो कन्या विक्रय से जो २ दोष दृष्टिगोचर होते हैं वे सव के सामने हैं। इसलिये इस कृत्य को सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

पुरुष विक्रयः—जिस प्रकार कन्या विक्रय महा पाप-जन्य कृत्य है ठीक उसी प्रकार वालक विक्रय या पुरुष विक्रय भी पापजन्य कृत्य है क्योंकि जिन २ दोषों की प्राप्ति कन्या विक्रय से होती है वेही दोष पुरुष विक्रय में भी

उपस्थित होते हैं। अतएव किसी कारण के उपस्थित होजाने पर कन्या विक्रय वा पुरुष विक्रय ये कार्य न करने चाहियें। तथा बहुत से कार्य धर्म विरुद्ध होते हुए भी देश विरुद्ध नहीं होते। परन्तु यह उक्त कार्य धर्म और देश तथा जाति इत्यादि सभी के विरुद्ध है। इसलिये सुज्ञ पुरुषों को इन कृत्यों का स्वजाति से बहिष्कार कर देना चाहिये।

व्यर्थ व्ययः—जिस प्रकार उक्त कार्य सर्व प्रकार की हानि करने वाले बतलाये गए हैं, ठीक उसी प्रकार व्यर्थ व्यय भी हानि करनेवाला कथन किया गया है। परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्यर्थ व्यय किसे कहते हैं? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहा जाता है कि:—

"पात्रं च त्रिविधं धर्म पात्रं कार्य पात्रं काम पात्रं चेति"

पात्र तीन प्रकार से कहाजाता है जैसे कि, धर्म पात्र, कार्य पात्र और काम पात्र। सो स्वर्ग और मोक्ष के लिये धर्म पात्र कथन किया गया है। इस लोक की आशा पूर्ति करने के लिये कार्य पात्र दान माना गया है और काम सेवन की वृद्धि के लिये काम पात्र कथन किया गया है। जैसे स्त्री आदि की रक्षा। तीनों पात्रों के अतिरिक्त व्यय किया जावे तो वह व्यर्थ व्यय कथन किया गया है जैसे कि, वेश्यानृत्य, भांड चेष्टाएं, तथा नाटकों का अवलोकन इत्यादि स्थानों में धन व्यय करना व्यर्थ व्यय माना गया है क्योंकि जिस प्रकार

भस्म में घृत डाला हुआ व्यर्थ जाता है ठीक उसी प्रकार उक्त स्थानों में धन व्यय किया हुआ किसी भी कार्य की सिद्धि करने में सामर्थ्यता नहीं रखता।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह व्यर्थ व्यय करने से बचता रहे और साथ ही धर्म, अर्थ, और काम इन तीन वर्ग का यथोचित रीति से पालन करता रहे।

क्योंकि प्रमाण से अधिक सेवन किये हुए पदार्थ लाभ के स्थान पर हानि के कारणीभूत बन जाते हैं।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि पात्रों के अतिरिक्त सर्व व्यर्थ व्यय ही जानना चाहिये।

साथ ही विवाह आदि क्रियाएं करते समय जो प्रमाण वा नियम से अधिक क्रियाएं की जाती हैं वे सर्व व्यर्थ व्यय में ही जाननी चाहिये, क्योंकि इन संस्कारों के समय जो गण के स्थविर होते हैं वे देश या काल के अनुसार नये २ नियमों की रचना करते रहते हैं जो देश और काल के अनुसार वे नियम कार्य साधक बनजाते हैं। उनका विचार यह होता है कि इन नियमों के पंथ पर धनाढ्य वा निर्धन सुख पूर्वक गमन कर सकेंगे जिससे किसी को भी बाधा उपस्थित न होगी। जिस प्रकार राजमार्ग पर सर्व व्यक्ति सुख पूर्वक गमन कर सक्ते हैं और गमन करते रहते

हैं ठीक उसी प्रकार नियमों के पथपर भी सर्व गणवासी चलते रहते हैं। परन्तु किसी बल या मद के आश्रित होकर उन नियमों के पालन करने की परवाह न करना तथा उन नियमों को छेदन भेदन करदेना यह योग्यता का लक्षण नहीं है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह देश काल का ठीक ज्ञान रखते हुए व्यय के घटाने की चेष्टाएं करते रहें। तथा उन नियमों के छिन्न भिन्न करने की चेष्टाएं कदापि न करें। तथा यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि जो पदार्थ परिणाम पूर्वक सेवन किये जाते हैं वे किसी प्रकार की बाधाएं उपस्थित नहीं करते। किंतु जो परिणाम से बाहिर सेवन करने में आते हैं वे किसी प्रकार से भी सुख-प्रद नहीं माने जासक्ते। जिस प्रकार उष्ण काल में परिणाम से सेवन किया हुआ जल, आयु का संरक्षक होता है ठीक उसी प्रकार परिणाम से अधिक सेवन किया हुआ आयु के क्षय का कारण बन जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के विषय में जानना चाहिये। व्यर्थ व्यय उसी का वास्तव में नाम है जो सांसारिक सिद्धि या धार्मिक कार्यों की सिद्धि के बिना किया जाय।

यदि ऐसा कहा जाय कि जब हम रात्रि के समय नृत्यादि को देखते हैं तो क्या उनके देखने से हमारी कार्य सिद्धि नहीं हुई है। अवश्य हुई है। क्योंकि जो हमारी

देखने की अभिलाषा थी उसकी पूर्ति तो अवश्य होगई। इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि उसके देखने से कई प्रकार के मन में संकल्प उत्पन्न हो जाया करते हैं परन्तु बहुत से संकल्प प्रायः अशुभ ही होते हैं और साथ ही कदाचार की ओर पग बढने लगजाता है इतना ही नहीं किंतु बहुत सी अनभिज्ञ आत्माएं फिर कुमार्ग में गमन करने वाली बनजाती हैं। इसलिये अब विचार कर देखाजाय तो उस नृत्य के देखने में जो धन का व्यय किया था वह किस काम में आया? अतः जिसमें सांसारिक वा पारमार्थिक कोई भी सिद्धि न हो, केवल इंद्रियों के ही तृप्ति करने का मार्ग हो उसी को व्यर्थ व्यय कहा जाता है। वास्ते ऐसी क्रियाओं से बचना चाहिये।

मृतक संस्कार के पश्चात् भोजन (मोसर)। जिस प्रकार नृत्यादि इंद्रियों की तृप्ति के कारण व्यर्थ व्यय में वर्णित किये गये हैं ठीक उसी प्रकार बहुत से लोग मृतक संस्कार वा उसके पश्चात् मृतक महोत्सव के रूप में जीमनवारादि किया करते हैं। ये क्रियाएं भी अयोग्य प्रतीत होती हैं और शास्त्रविहीत न होने से व्यर्थ व्यय करने में मूल कारण बन जाती हैं।

जैसे कि जब किसी की मृत्यु होती है तब उसके वियोग का दुःख प्रायः सम्बन्धीजनों को होता ही है। हां, इतना विशेष अवश्य है कि जिस प्रकार की मृत्यु उसी प्रकार का

वियोग यह होना स्वाभाविक बात है। जैसे कि एकतो युवा पुरुष की मृत्यु हुई और दूसरे एक ९० वा सौ वर्ष के पुरुष की मृत्यु हुई। परंतु मृत्युधर्म समान होने पर भी अवस्था के कारण से वियोग में विभिन्नता अवश्य देखी जाती है।

शोक से लिखना पड़ता है कि उस विभिन्नताने लौकिक में और ही रूप धारण कर लिया है जैसे कि:—युवा की मृत्यु समय अत्यंत वियोग और वृद्ध की मृत्यु समय अत्यंत प्रमोद इतना ही नहीं किंतु उपहास्यादि के वशीभूत होते हुए उस वृद्ध के शव की दुर्दशा देखने में आती है। कोई छज्ज (सूप) या फूटा ढोल बजाता है, कोई असभ्य गीत गाता है, कोई बाजार में नाचता है इत्यादि क्रियाएं करते हुए उस वृद्ध के शव को बड़े कष्टों के साथ मृत्यु संस्कार के स्थान तक पहुंचाते हैं। फिर अग्नि—संस्कार के समय में भी उसके शव की दुर्गति की जाती है तो भला विचारने की बात है कि क्या ये क्रियाएं आर्य पुरुषों के लिये लज्जास्पद नहीं हैं? अवश्यमेव हैं। तथा क्या इन क्रियाओं के करने से कोई योग्यता पाई जाती है। कदापि नहीं।

अतएव इस प्रकार की क्रियाओं का परिहार अवश्यमेव गण के नेताओं को करने योग्य है। तथा मृत्यु—संस्कार के पश्चात् बहुतसे गणों में प्रथा है कि वे जीमनवार (मौसर) करते हैं। कई स्थानों पर निर्धन परिवार को केवल गण के भय से उक्त क्रियाएं करनी पड़ती हैं और वे दोनों प्रकार से दुःखित

होते हैं जैसे किः—एकतो उनके सम्बन्धियों का वियोग दूसरे गण के भय से व्यर्थ व्यय। क्योंकि उनके पास इतना पर्याप्त धन नहीं होता जिससे वे विवाह–संस्कार के समान मृतक संस्कार के लिये ज्ञाति भोजन कर सकें।

अतएव गण के नेताओं को योग्य है कि इस प्रकार की कुप्रथाओं का विरोध करें।

तथा जो ज्ञाति जन उस भोजन में अपने भोजन खाने के लिये उन क्रियाओं के करने में अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं यदि उन लोगों को कम्पनियों के तमाशों (नृत्य) की तरह वीस या त्रीस मुद्राओं देनी पडे तब उनको सहज में ही निश्चित होजाय कि मृतक के संस्कार महोत्सव की मिठाई का कितना मूल्य पडा है।

अतएव इतना महंगा पदार्थ हम नहीं खा सक्ते। शोक से कहना पडता है कि अनेक धार्मिक संस्थाएं विना सहानु-भूति के मृतक शय्या पर शयन किये जारही हैं और कई बूझते हुए दीपक की तरह डांवां डोल हो रही हैं। जाति के अनाथ बालक वा बालिकाएं भूख के मारे विधर्मी वन रही हैं और अनेक विधवाएं विना सहायता के कदाचार में प्रविष्ट हो रही हैं। श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी का पवित्र सिद्धांत विना प्रचार के अनेक आक्षेपों का स्थान वनरहा है तथा जैन

धर्म के प्रचार किये विना अनेक आत्माएं अंधकार मार्ग में गमन कर रही हैं।

इन विषयों की ओर उन महानुभावों का ध्यान तनिक भी नहीं जाता। यदि उनसे इस विषय में कहा जाय तो वे शीघ्र ही उत्तर प्रदान करते हैं कि क्या हम अपनी पुरातन रीति को छोड दें? सो यही अज्ञानता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु के प्रचार का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव माना गया है।

सो जब यह प्रथा आरंभ हुई होगी तब उस समय यह देश वा प्रत्येक घर समृद्धि शालि वना हुआ था। वे किसी निमित्त को रखकर अपनी ज्ञाति में प्रीति भोजन द्वारा सेवा करनी प्रत्येक व्यक्ति अपना सौभाग्य समझता होगा। क्योंकि अनुमान से प्रतीत होता है कि जैसे ब्राम्हण लोगों ने मृतक के पश्चात् श्राद्ध कल्पन कर लिये थे ठीक उसी प्रकार सुयोग्य व्यक्ति ने श्राद्ध को कल्पित होने के कारण न मानते हुए केवल ज्ञाति में मृतक के नाम पर ज्ञाति भोजन स्थापन कर दिया होगा। सो जब देश वा प्रत्येक घर की प्राग्यन वह दशा ही नहीं रही हैं तो फिर उक्त क्रिआओं के करने की अब क्या आवश्यक्ता है?

इससे तो अब यह प्रथा अच्छी प्रतीत होती है कि उस मृतक के पश्चात् उसके सम्बन्धियों की यथोचित विधि से सहानुभूति की जाय।

अर्थात उनकी धर्म-क्रियाओं में आनेवाली अनेक बाधाओं को निर्मल किया जाय।

तथा देश कालानुसार उनकी रक्षा करते हुए अपने पवित्र, परम पवित्र अहिंसा धर्म का परिचय दिया जाय।

और साथ ही इस बात का सदैव विचार करना चाहिये कि हमारा परम पवित्र अहिंसा धर्म प्रत्येक प्राणी का रक्षक है न तु प्रत्येक प्राणी को दुःख देनेवाला।

यदि ऐसा कहा जाय कि क्या हम पूर्व पुरुषों की बांधी हुई प्रथा को छोडदें ? तो इस प्रकार की शंकाओं के उत्तर में कहाजाता है कि बहुत सी प्रथाएं पूर्व पुरुष उस समय के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को देखकर ही बांधा करते हैं, जब वे प्रथाएं कालान्तर में विशेष लाभप्रद नहीं रहती तब वर्तमान कालीन महापुरुष (गण स्थविरादि) उन नियमों में परिवर्तन अवश्यमेव कर देते हैं। जैसे कि:—कुलकरों वा तीर्थंकरों ने किया तथा वर्तमान काल में प्रत्येक सुशिक्षित समाज राज्यकीय कर्मचारी गण प्रत्येक नियम में सुधारा अर्थात् परिवर्तन करते रहते हैं।

अतएवअनादि नियमों के विना प्रत्येक नियम परिवर्तन-शील माना गया है।

सो व्यर्थ व्यय के यावन्मात्र मार्ग हैं उनका निरोध करना सभ्य पुरुषों का मुख्य लक्षण वा मुख्य कार्य है ?

जब इस प्रकार के उत्तम विचार प्रत्येक सुयोग्य व्यक्ति के हृदय में अंकित हो जायँगे तब देश या धर्माभ्युदय के होने में किंचित मात्र भी विलम्ब नहीं होगा।

यदि ऐसा कहा जाय कि श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी की इस विषय में क्या शिक्षाएं हैं ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि उनकी शिक्षा तो सदैव काल उक्त क्रियाओं से बचने की है। देखो श्रावक के पूर्व भागों में लिखे हुए बारह व्रतों का स्वरूप तथा श्री श्रमण भगवान स्वामी की प्रत्येक प्राणी के धारण करने योग्य निम्न शिक्षाओं के पाठ को भी पढ़िये।

"अट्ठहिं ठाणेहिं सम्मं संघडितव्वं, जति तव्वं, परकमितव्वं अस्सिं च णं अट्ठणो पमाते तव्वं भवति-असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणा ता ते अब्भुट्ठे तव्वं भवति ? सुताणं धम्माणं ओगि एहण या ते उव धारण या ते अब्भुट्ठे तव्वं भवति २ पावाणं कम्माणं संजमेण म करण ता ते अब्भुट्ठे यव्वं भवति ३ पोराणाणं कम्माणं तवसा विगिंचण ता ते विसोहण ता ते अब्भुट्ठे तव्वं भवति ४ असंगिहीत परिणतस्स संगिएहण ता ते अब्भुट्ठे यव्वं भवति ५ से हं आयार गो पर गहण ता ते अब्भुट्ठे यव्वं भवति ६ गिलाणस्स अगिला ते वेयावच्च करण

ताए अब्भुट्ठे यव्वं भवति ७ साहम्मि ताण मधि करणंसि उप्पणंसि तथ्थ अणिस्सितो वस्सितो अपक्ख गाही मज्झत्थ भाव भूते कहण साहमिया अप्पसद्दा अप्पझंझा अप्पतु मंतुमा उवसामण ताते अब्भुट्ठे यव्वं भवति ८.

ठाणांग सूत्र स्थान ८ सू. ६४९ (समितिवाला)

अर्थः—श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी प्रति पादन करते हैं कि हे आर्यो ! आठ स्थानों की प्राप्ति में योग कार्य करना चाहिये । प्राप्त कार्यों में उसके रखने के लिये यत्न करना चाहिये । शक्ति क्षय समय तक इनका पालन करना चाहिये । उत्साह पूर्वक इनमें पराक्रम करना चाहिये । अर्थात् किसी प्रकार से इन स्थानों के पालने में प्रमाद न करना चाहिये जैसे कि:—

१ जिस श्रुत धर्म को पूर्व नहीं सुना है उसके सुनने के लिये उद्यत हो जाना चाहिये ।

२ सुने हुए श्रुत धर्म को विस्मृत न करना चाहिये ।

३ पाप कर्म का संयम द्वारा निरोध करना चाहिये ।

४ तपस्या द्वारा प्राचीन कर्मों की निर्जरा कर देनी चाहिये अर्थात आत्म विशुद्धि करनी चाहिये ।

५ असंगृहीत जन को संगृहित करना चाहिये। अर्थात अनाथों की पालना करना चाहिये।

६ शैक्षक को आचारगोचार सिखलाना चाहिये।

७ रोगियों की घृणा छोडकर सेवा करनी चाहिये।

८ यदि सद्धर्मियों में कलह उत्पन्न होगया हो तो राग और द्वेष से रहित होकर तथा किसी भी आशा को न रखकर केवल माध्यस्थ भाव अवलम्बन कर उस क्लेश को मिटा देना चाहिये। फारण कि क्लेश के शांत होने से अविनय के वृद्धि करने वाले वाक्यों का अभाव होजाने से केवल शांति का राज्य स्थापन होजायगा। कारण कि सब प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाली एक शांति देवी है सो जब इस देवी का आगमन होता है तब उसी समय नाना प्रकार के सुख या विस्मय उत्पादन करने वाली नाना प्रकार की शक्तियां आत्मा में प्रादुर्भूत होने लग जाती हैं।

फिर क्रमशः आत्मा निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है। अतएव व्यर्थ व्यय को छोडकर श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी की प्रतिपादन की हुई शिक्षाओं द्वारा अपना जीवन पवित्र बनाना चाहिये।

पाठ तेरहवाँ

प्रेम और परोपकार[1]

प्रेम का लक्षण है कि किसी भी तरह के स्वार्थ की इच्छा न कर, सब जीवों पर समान भाव रख उनकी मदद करना, उनकी भलाई करना और उन्हें परमार्थ की तरफ आगे बढ़ाना। जहां स्वार्थ के लिये मदद की जाती है वहां प्रेम नहीं होता है। प्रेम सदा निस्पृह भाव से ही होता है। उसमें बदले की आशा नहीं होती। जहां बदले की आशा है वहां प्रेम नहीं है। जिस पर हमने उपकार किया है वह हमारे उपकार को समझे, उसके लिये हमारा कृतज्ञ बने। यह भावना जहां हो वहां भी समझना चाहिये कि प्रेम दूषित है। प्रेम की भावना से जो उपकार किया जाता है उसके लिये उपकृत मनुष्य यदि उम्रभर कृतज्ञता प्रकट न करे तो भी उपकार कर्ता के मनमें किसी तरह का ख्याल नहीं आता। वह उपकृत मनुष्य को किसी के सामने कृतघ्न नहीं बताता। प्रेम में मत, जाति, सम्बंध, देश, विदेश आदि का भेद नहीं होता। प्रेमी सारे संसार के आदमियों को अपना भाई समझता है। शत्रु, मित्र भाव का तो उसके हृदय में अभाव ही होता है। प्रेमी एक परमात्मा ही की प्रार्थना करता है।

---

1 आत्म ज्ञान प्रवेशिकातः।

अपने दुःख की बातें वह परमात्मा के सिवाय किसी के सामने प्रकट नहीं करता। कुदरत से उसे जो कुछ मिलता है उसी को वह सादर स्वीकार करता है। प्रेमी के पास सिफारिश पहुंचाने की जरूरत नहीं रहती। प्रेमी के मन में अपने पराये का भेद नहीं होता। जिसके मन में यह भेद है वह। प्रेमी नहीं है। प्रेमी सदा मस्त रहता है, सदा निर्भय होता है प्रेमी का मूल परमात्मा में होता है। और उसका विस्तार वह सारे संसार के जीवों में करता है। प्रेमी के समान पवित्र पात्र संसार में दुर्लभ होते हैं। जीवों को प्रेम से चाहता है। 'सबकी भलाई करना' यही उसका मुद्रा लेख होता है। वह कष्ट सहकर भी दूसरे की भलाई करता है। वह यह कभी नहीं चाहता कि मेरी की हुई भलाई को लोग जाने। प्रेमी परमात्मा को पहचानने वाला होता है। परमात्मा की महान शक्तियां उसके प्रेम गुण के कारण उसमें प्रकट होती हैं। आत्मा को जाने और उसका अनुभव किये बिना कोई भी आदमी प्रेमी नहीं बन सक्ता है। हां, परोपकारी हो सक्ता है। जिन्होंने संसार से प्रेम किया है, जो समस्त संसार को अपने आत्मा के समान समझते हैं वेही सच्चे प्रेमी महात्मा हैं। जबतक ऐसी प्रेम की शक्ति अपने अंदर उत्पन्न न हो तबतक मनुष्य को अपना जीवन परोपकार में बिताना चाहिये। दूसरे का उपकार करना और प्रत्यक्ष में उसके बदले की आशा न करना यह परोपकार का

लक्षण है। परोपकार में अंदरुनी ऊंचे प्रकार का मान होता है। यद्यपि प्रेम की अपेक्षा परोपकार वृत्ति का दर्जा छोटा है तथापि स्वार्थ वृत्ति की अपेक्षा इसका दर्जा बहुत ही बडा है। यद्यपि परोपकारी अपने स्वार्थ का त्याग करता है तथापि उसके अंतरंग में परोपकार के बदले महान् लाभ होने की आशा रहती है। परोपकार वृत्ति धीरे २ मनुष्य को प्रेम की तरफ लेजाती है। परोपकारी के हृदय में अपने भावी कल्याण की सुंदर आशा होती है। यद्यपि यह इष्ट नहीं है तथापि वर्तमान स्थिति के लिये तो उत्तम ही है। अपना पेट तो कौए और कुत्ते भी भरते हैं; मगर दूसरों के दुःखों को दूर करने में अपने जीवन की आहुति करने वाले बहुत ही थोडे होते हैं। महात्मा लोग कहते हैं कि अपनी शक्ति के अनुसार तुम दूसरों की मदद करो; तुम्हें अगर मदद की जरूरत होगी तो तुम से विशेष शक्तिवाले तुम्हारी मदद करेंगे। न तो तुम पूर्ण हो और न इच्छाओं या आवश्यक्ताओं से रहित हो, इसलिये दूसरों की इच्छाएं या आवश्यक्ताएं तुम पूरी करो। तुम्हारी आवश्यक्ताएं और इच्छाएं भी पूरी की जायँगी। मनुष्यों को यह विचार करना चाहिये कि हमारे पास इतने साधन नहीं है कि हम दूसरों की सहायता कर सकें। तुम्हारे पास जितनी शक्ति या साधन हैं उनमें थोडासा अंश भी तुम दूसरों की सहायता के लिये खर्च करो। जिसको तुमसे भी बहुत ज्यादा जरूरत

है उसको दो। हो सकता है कि तुम नये कुए वावडी न खुदवा सको; पानी की प्याउएं न लगवा सको; मगर एक लोटा पानी तो वास्तविक प्यास वाले को पिला ही सक्ते हो। भले तुम सदाव्रत न खुलवा सकते हो मगर भूखे को एक रोटी तो दे ही सकते हो। भले तुम धर्म शाला न बंधवा सकते हो मगर धूप से झुलसते हुए को, सर्दी से ठिठरते हुए को अथवा पानी में भींगते हुए को तुम अपने मकान में या चबूतरे पर तो जगह जरूर दे सकते हो। भले तुम मुफ्त औषधालय न खुलवा सक्ते हो; परंतु रोगार्त्त पडोसी के लिये कहीं से लाकर औषध तो देही सक्ते हो।

भले तुम दुःखी का दुःख नहीं मिटा सकते हो; परंतु मीठे शब्द बोलकर उसे आश्वासन तो अवश्य दे सकते हो। दुःख में डूबते हुए मनुष्य को आश्वासन भी बहुत कुछ उबार लेता है; आधा दुःख दूर कर देता है। भले ही धर्म के बडे २ व्याख्यान तुम न दे सकते हो मगर गुरु महाराज के मुख से सुनी हुई धर्म की बातें तो दूसरों को सुनाही सकते हो। भूले हुए को भले तुम उसके अभीष्ट स्थान पर न पहुंचा सकते हो; परंतु उस स्थान का पता तो अवश्यमेव बता सकते हो।

इस तरह यदि छोटे २ उपकार के काम करने का अभ्यास डालोगे तो अंत में तुम में महान् कार्य करने की शक्ति भी प्रकट होगी। यदि स्वयं तुम कोई उपकार न कर

सकते हो तो परोपकारी जीवों के साथ दुःखी जीवों का समागम अवश्यमेव करादो। जिसमें देने की शक्ति है उसको वास्तविक मदद नहीं मिलती अतः उनको वह मिला देना भी परोपकार है। प्रत्येक मनुष्य को सवेरे उठते ही कुछ न कुछ परोपकार करने का नियम लेना चाहिये। ऐसा करने से परोपकार करने के अनेक मौके तुम्हें मिलेंगे। प्रति क्षण तुम्हारी वृत्ति परोपकार के अंदर ही रहेगी। जो परोपकार करने में अपना जीवन विताते हैं उन्हें महान् पुरुषों के आशीर्वाद मिलते हैं। उनका हृदय निर्मल और निरभिमानी वनता है। वे उच्च पद पाने के योग्य होते हैं। सत्ता में छुपी हुई आत्मा की अनंत शक्तियां परोपकार करने से वाहिर आजाती हैं। आत्म शक्तियों के विकसित हो जाने पर मनुष्य दुनिया के उद्धारक महात्माओं की श्रेणी में आजाता है और उस समय परोपकार के वदले उसमें प्रेम के शांत झरने वहने लगते हैं। वह प्रेमी वनता है और अंतमें वह परमात्मा के साथ एक रूप वन जानेवाली अपनी आत्म शक्तियां प्रकट करता है; परम शांति पाता है। यह परिणाम परोपकारी और प्रेम-मय जीवन विताने का है।

ब्रह्मचर्य ।

जिस प्रकार आकाश सब पदार्थों का आधार है और सब पदार्थ आकाश में आधेय रूप में ठहरे हुए हैं ठीक उसी प्रकार सर्व गुणों का आधार एक ब्रह्मचर्य ही है। तथा जिस प्रकार एक वृक्ष के आश्रित अनेक पत्र पुष्प और फल ठहरते हैं ठीक उसी प्रकार प्रत्येक गुण का आश्रयभूत एक ब्रह्मचर्य ही है।

तथा जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को जगती का आश्रय है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक गुण ब्रह्मचर्य के आश्रयभूत होकर रहता है।

तथा जिस प्रकार सब ज्योतियों में सूर्य की ज्योति अत्यंत प्रकाशमान है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक गुणों में ब्रह्मचर्यरूप गुण अतीव प्रकाशमान है।

तथा जिस प्रकार प्रत्येक शान्तमय पदार्थों में चन्द्रमा शांत और प्रकाश गुण के धारण करनेवाला है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्रतों में अपने अद्वितीय गुण के धारण करनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत है।

तथा जिस प्रकार समुद्र गंभीरता गुण से युक्त है ठीक उसी प्रकार सर्व गुणों का आश्रयभूत एक ब्रह्मचर्य व्रत है।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक वा मानसिक दशा सुधारने के लिये वा लोक और परलोक सुधारने के लिये इस महाव्रत को धारण करना चाहिये।

यद्यपि ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ ब्रह्म में प्रविष्ट होना है अर्थात् अपने निज स्वरूप में प्रविष्ट होना है तथा कुशलानुष्ठान भी इसी का अर्थ है तथापि इस स्थान पर मैथुन से निवृत्त होकर केवल श्रुतज्ञान में प्रविष्ट होना लिया गया है। क्योंकि यावत्काल विषय विकारों से सर्वथा निवृत्ति नहीं की जाती तावत्काल पर्यंत आत्मा अपने अभीष्ट ध्येय की ओर भी नहीं जा सक्ता अतएव इस स्थान पर मैथुन के दोष और ब्रह्मचर्य के गुण जिनदास और जिनदत्त दो मित्रों के सम्वाद रूप में लिखे जाते हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति उक्त व्रत के गुण और उक्त व्रत के न धारण करने से जो अवगुण उत्पन्न होते हैं उनको जानले।

जिनदासः—प्रिय मित्र! मैथुन सेवन करने में क्या दोष है? जो आप सदैव काल इसका निषेध करते रहते हैं?

जिनदत्तः—प्रियवर! इसके दोषों का क्या ठिकाना है? यह तो दोषों का आगर [खान] ही है।

जिनदासः—यदि आप इसमें अनेक दोष समझते हैं तो प्रियवर! कुछ दोषों का दिग्दर्शन तो कराइये

जिससे मुझे भी ठीक पता लगजाय कि मैथुन सेवन करने में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

जिनदत्तः—प्रियवर ! यदि आप सुनना चाहते हों तो आप ध्यान देकर सुनिये।

जिनदासः—प्रियवर ! मैं ध्यान पूर्वक ही सुनना चाहता हूं आप कृपा कीजिये।

जिनदत्तः—सुहृद्वर्य ! सुनिये, प्रथम तो सबसे पहिले इस पाप के द्वारा अपने पवित्र शरीर का नाश होजाता है। उसके पश्चात जो शरीर के भीतर आत्मा निवास करता है उसकी जो ज्ञानादि अनंत शक्तियां हैं फिर उनको भी आघात पहुंचता है।

जिस प्रकार एक तीक्ष्ण खड्ग [तलवार] से सिर काटने पर फिर आत्मा भी उस शरीर से पृथक होजाता है ठीक उसी प्रकार इस मैथुन क्रीडा से शरीर की हानि होने से फिर आत्मा के गुणों को भी आघात पहुंचता है।

जिनदासः—प्रियवर ! इस मैथुन क्रीडा से शरीर को क्या २ हानि पहुंचती है, पहले यहतो बतलाइये ?

जिनदत्तः—यावन्मात्र प्रायः असाध्य कोटि के रोग हैं उनकी उत्पत्ति का कारण प्रायः मैथुन

क्रीडा ही है तथा शरीर का कांपना, अत्यंत परिश्रम [थकावट] मानना, पसीना वारम्वार आना, सिर में चक्कर आने, चित्त भ्रमण करते रहना' प्रत्येक कार्य के करते समय मन में ग्लानि उत्पन्न होजाना और अत्यंत निर्बल हो-जाना इतनाही नहीं किंतु बिना सहारे से बैठा भी न जाना, फिर क्षयादि रोगों का उत्पन्न होजाना यह सब मैथुन क्रीडा के ही फल हैं। अतएव तेज के घट जाने से कौनसा शारिरीक दोष है जो इसके सेवन से उत्पन्न नहीं हो-सक्ता ?

जिनदासः—इसके अतिरिक्त क्या कोई और भी शरीर को हानि पहुंचती है ?

जिनदत्तः—प्रिय ! जब क्षयादि रोग उत्पन्न होगए तो फिर उनसे बढकर और क्या हानि होती होगी ! क्योंकि जब शरीर का ही तेज घट गया तो फिर शेष रहा ही क्या ? तथा जब स्वाभाविक बल का नाश हो गया तो फिर उस व्यक्ति को कृत्रिम बल क्या बना सक्ता है ? क्योंकि जो पुष्पों पर स्वाभाविकता से सौंदर्य होता है वह सौंदर्य क्या वस्त्रों पर आसक्ता है ?

कदापि नहीं। इसी प्रकार जो ब्रह्मचर्य की स्वाभाविक शक्ति है तो क्या फिर उस प्रकार की शक्ति कभी किसी औषध के सेवन से आसक्ती है ? कदापि नहीं। अतएव मैथुन क्रीडा को त्याग कर परम पवित्र ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये।

जिनदासः—मित्र ! क्या जिन आत्माओं ने ब्रह्मचर्य व्रत को धारण नहीं किया हुआ है उनके संतान उत्पन्न नहीं होती ?

जिनदत्तः—सखे ! क्या आप देखते या जानते नहीं हैं कि जो अत्यंत विषयी जन हैं प्रथम तो उनके संतान उत्पन्न ही नहीं होती। यदि होभी जाती है तो फिर वह अत्यंत निर्बल और रोगों से घिरी हुई तथा अल्पायुवाली होती है।

जिससे देश का और भी अधःपतन हो रहा है। या ऐसा कौनसा सुकृत है जो मैथुन क्रीड़ा से नष्ट नहीं किया जा सक्ता ? जैसे कि विद्या का नाश किसने किया ? **मैथुन क्रीडाने**, संयम का नाश किसने किया ? **मैथुन क्रीडाने**,

मनको निर्बल किसने बनाया ?

मैथुन क्रीडाने,

संसार में सबसे बढकर अधर्म कौनसा है ?

मैथुन क्रीडा.

चित्त को विभ्रम कौन उत्पन्न करता है ?

मैथुन क्रीडा.

बालकों की मुख की सौंदर्यता और चंचलता के नाश करने वाला कौन है ?

मैथुन क्रीडा.

प्रत्येक प्राणी से वैर करने का मुख्य कारण कौन है ?

मैथुन क्रीडा.

कौनसा गुप्त पाप किया हुआ जनता में शीघ्र प्रकट होजाता है ?

मैथुन क्रीडा.

ब्रह्म से कौन नहीं मेल होने देता ?

मैथुन क्रीडा.

सदैव काल मनको संताप में कौन डालता रहता है ?

मैथुन क्रीडा.

राम ने रावण को क्यों मारा ?

मैथुन क्रीडा के कारण से.

रामने सहस्र गति राजा को क्यों मारा ?

मैथुन क्रीडा के कारण से.

मनको विभ्रम में सदा कौन डालता है ?

मैथुन क्रीडा.

क्लेश का मुख्य कारण कौन है ?

मैथुन क्रीडा.

मित्रको शत्रु कौन बनाता है ?

मैथुन क्रीडा.

उच्च पद से गिरा कर नीच पद में कौन स्थापन करता है ?

मैथुन क्रीडा.

लोक में निर्लज्ज कौन बनाता है ?

मैथुन क्रीडा.

डाक्टरों वा वैद्यों को गुप्त सेवा कौन कराता है ?

मैथुन क्रीडा.

गर्मी के गुप्त रोग किसको होते हैं ?

मैथुन क्रीडा के करने वाले को.

सर्वस्व का नाश कौन करता है ?

मैथुन क्रीडा का करने वाला.

अतएव हे मित्र ! कौनसा शारीरिक या मानसिक रोग है जो मैथुन क्रीडा से उत्पन्न नहीं होता ?

सो मैथुन क्रीडा को छोडकर ब्रह्मचर्य के व्रत क आश्रित होकर अपने जीवन को पवित्र वनाना चाहिये।
क्योंकि इस नियम के आश्रित होकर सब प्रकार की सिद्धियां उत्पन्न हो सक्ती हैं.

जिस प्रकार सर्व प्रकार के वृक्षों में अशोकवृक्ष (कल्पवृक्ष) अपनी प्रधानता रखता है ठीक उसी प्रकार सर्व व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत अपनी प्रधानता रखता है।

जिनदासः—ब्रह्मचर्य में प्रत्यक्ष और परोक्ष गुण कौन २ से हैं ?

जिनदत्तः—सखे ! ब्रह्मचर्य में प्रत्यक्ष और परोक्ष अनेक गुण हैं।

जिनदासः—मित्र ! आप उन गुणों का यथा विधी उपदेश दीजिये।

जिनदत्तः—मित्र ! आप दत्त चित्त होकर सुनिये।

जिनदासः—मै सुनता हूं, आप सुनाइये।

जिनदत्तः—मेरे परम प्रिय सुहृदद्वर्य ? सबसे प्रथम तो ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से यह लाभ प्राप्त होता है कि शारिरिक शक्ति का दिन प्रतिदिन

विकास होता जाता है. क्योंकि बल के लाभ से शारिरिक शक्ति बढती जाती है जिस प्रकार जल के सींचने से वृक्ष प्रफुल्लित वा विकसित होने लग जाता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा शारिरिक शक्ति वृद्धि होने लगती है। तथा जिस प्रकार जल सींचने से वृक्ष प्रफुल्लित होता हुआ फिर नाना प्रकार के पुष्प वा फल देने के समर्थ हो जाता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के द्वारा जब शारिरिक शक्ति बढने लगती है तब साथ ही उसके फिर आत्मिक शक्ति भी विकसित होने लग जाती है। इसलिये इस व्रत का धारण करना अत्यंत आवश्यकीय वतलाया गया है। तथा यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि जब ब्रह्मचर्य की शक्ति आत्मा में होती है तब आत्मा प्रत्येक क्रियाओं के करने में अपनी सामर्थ्य रखता है और फिर प्रत्येक गुण उस आत्मा में स्थिति करने लग जाते हैं। जिस प्रकार ज्ञान में प्रत्येक पदार्थ को विषय करने की शक्ती होती है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत में प्रत्येक गुण के धारण करने की शक्ति रहती है ?

जिनदासः—आत्म विकास किससे होता है ?

जिनदत्तः—ब्रह्मचर्य से।

चित्त में धैर्य और परमोत्साह किससे उत्पन्न होता है ?

ब्रह्मचर्य से।

और योगाभ्यास में एकाग्र चित्त किसका होता है ?

ब्रह्मचारी का।

शारिरिक और मानसिक कष्ट किससे दूर होते है ?

ब्रह्मचर्य से।

आत्मिक शक्ति किसकी विकसित होती रहती है ?

ब्रह्मचारी की।

तप और सयम किससे वृद्धि पाते है ?

ब्रह्मचर्य से।

स्फुरण शक्ति शील कौन होता है ?

ब्रह्मचारी।

दृढ विश्वास किससे उत्पन्न होता है ?

ब्रह्मचर्य से।

परमार्थ पथ कौन प्राप्त करता है ?

ब्रह्मचारी।

निर्वाण पद किससे प्राप्त होसक्ता है ?

ब्रह्मचर्य से।

सौंदर्य किससे बडता है ?

ब्रह्मचर्य से।

लावण्य किससे बढता है ?

ह्मचर्य से

कला कुशलता किसकी बढती है ?

ब्रह्मचारी की

प्राण भूत चरित्र की रक्षा कौन करा सक्ता है ?

ब्रह्मचर्य

सिद्ध परमातमा से एकत्व रूप कौन कर सक्ता है ?

ब्रह्मचर्य

चिरायुप किस से हो सक्ता है ?

ब्रह्मचर्य से

सु संस्थान किससे बनता है ?

ब्रह्मचर्य से

दृढ संहनन किससे बन सक्ता है ?

ब्रह्मचर्य से

तेजस्वी कौन होसक्ता है ?

ब्रह्मचारी

महावीर्य युक्त कौन हो सक्ता है ?

ब्रह्मचारी

इस प्रकार हे मित्र वर्य्य ! यह ब्रह्मचर्य व्रत गुणों की खानि है। इसी में सर्व गुणों का अंतर्भाव होता है। जिस प्रकार सिर के विना धड किसी काम का नहीं होता ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत के विना शेष नियम सिर के विना धड के समान है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति को इस महाव्रत का यथोक्त विधि से सेवन करना चाहिये।

परंतु स्मृति रहे कि यह व्रत दो प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि एक सर्व वृत्ति महात्माओं का और द्वितिय गृहस्थ लोगों का सो दोनों की व्याख्या निम्न प्रकारसे पढिये।

जिनदासः—प्रियवर ! जो आपने सर्व वृति साधू-मुनिराज के ब्रह्मचर्य विषय का वर्णन किया है मैं कुछ उसका स्वरूप सुनना चाहता हूं।

जिनदत्तः—मित्रवर्य्य ! आप दत्त चित्त होकर उक्त विषय को सुनिये.

जिनदासः—आर्य ! सुनताहूं. सुनाइये.

जिनदत्तः—मित्रवर्य्य ! जब साधु वृत्ति ली जाती है तब उस समय वह मुनि मन, वचन, और काय से उक्त महाव्रत को धारण करता है—जगत मात्र के स्त्रीवर्ग को माता, भगिनी, वा पुत्री की दृष्टि से देखता है। और सदैव काल

अपने पवित्र ध्यान में जगत के स्वरूप का चिंत्वन करता रहता है। इतनाही नहीं किंतु उसकी आत्मा जिस प्रकार लवण की डली जलमें एक रूप होकर ठहर जाती है ठीक उसी प्रकार उस मुनि का आत्मा ध्यान में तल्लीन हो जाता है अर्थात् ध्याता, ध्येय और ध्यान से हटकर केवल ध्येय में तल्लीन होजाता है। अतएव वह मुनि नौं नियमों से युक्त शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन कर सक्ता है।

जिनदासः—सखे ! वे नौं नियम कौन से हैं जिन के द्वारा शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन किया जा सक्ता है ?

जिनदत्तः—मित्रवर्य्य ! उन नौं नियमों के नाम नौ ब्रह्मचर्य्य की गुप्ति भी कहा गया है क्योंकि उन नियमों से ब्रह्मचर्य भली प्रकार से सुरक्षित रह सक्ता है जैसे किः—

नव बंभचेर गुत्ती ओ प. तं. नो इत्थी पसु डग संसत्ताणि सिज्जा सणाणि सेवित्ता भवइ ?

इसका अर्थ यह है कि नौ प्रकार से शुद्ध ब्रह्मचर्य की गुप्ति प्रतिपादन की गई है जैसे किः—

ब्रह्मचारी पुरुष जिस स्थान पर स्त्री, पशु और नपुंसक रहते हों उस स्थान पर निवास न करें। कारण कि उनके

साथ रहने से ब्रह्मचर्य व्रत में नाना प्रकार की शंकाएं उत्पन्न होने की संभावना की जा सकेंगी।

जिनदासः—सखे ! जब अपना मन दृढ हो तब उक्त व्यक्तियों के साथ रहने में क्या दोष है ?

जिनदत्तः—मित्रवर्य ! चाहे कितना ही मन दृढ हो फिर भी संग अपना फल बतलाये बिना नहीं रहता। अतएव संग दोष के दूर करने के लिये उक्त व्यक्तियों के साथ निवास न करना चाहिये। जैसे कि बाजार वाले चाहे कितनी श्रेष्ठ आत्मा हों फिर भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने बहुमूल्य वाले पदार्थों की रक्षा के लिये पेटी आदि को ताला आदि लगाने ही पडते हैं। इसी प्रकार भले ही मन दृढ हो फिर भी ब्रह्मचर्य की गुप्ति के लिये उक्त व्यक्तियों के साथ सहवास न करना चाहिये।

जिनदासः—मित्रवर्य्य ! इसका कोई दृष्टांत देकर समझाओ।

जिनदत्तः—प्रियवर ! सुनिये जिस स्थान पर बिडाल का वास हो वहां पर मूशकों (चूहों) का रहना हितकर नहीं होता तथा जिस स्थान पर सिंह का वास हो उसके निकट मृग का रहना शांति-

प्रद नहीं होता। तथा जहां पर सांप का वास हो वहां पर पुरुषों का रहना सुख प्रद नहीं माना जा सक्ता। तथा जहांपर चुगलों का वास हो उस स्थान पर सज्जन पुरुष भी निष्कलंक नहीं रह सक्ता। ठीक इसी प्रकार जिस स्थान पर स्त्री, पशु तथा नपुंसक निवास करते हों उस स्थान पर ब्रह्मचारी पुरुष का रहना सुखप्रद नहीं माना जा सक्ता। तथा जो ब्रह्मचारिणी स्त्री हो उसके लिये भी यही नियम है और वह जहां पर पुरुष पशु और नपुंसक रहते हों उन २ स्थानों को छोड देवे तब ही ब्रम्हचर्य की गुप्ति ठीक रह सक्ती है।

जिनदासः—सुहृदय वर्य! मैं अब ठीक समझ गया किंतु अब मुझे आप ब्रम्हचर्य का दूसरा नियम सुनाइये।

जिनदत्तः—ध्यान पूर्वक सुनिये "**नो इत्थीण कहं कहित्ता भवइ ॥ २ ॥** ब्रम्हचर्य पुरुष काम-जन्य स्त्री की कथा न करे क्योंकि जब वह पुनः२ काम जन्य स्त्री की कथा करता रहता है तब उसकी आत्मा पर अच्छा प्रभाव नहीं पडता क्यों कि जिस प्रकार के प्रायः मन में संस्कार उत्पन्न

होते हैं प्रायः उनका प्रभाव भी वैसा ही आत्मा पर पडता है। सो जब स्त्री की कथा में ही लगा रहेगा तब उसके ब्रम्हचर्य व्रत में अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न होते रहेंगे जिसका प्रभाव फिर उसके लिये अच्छा नहीं होगा। अतएव ब्रम्हचारी पुरुष को स्त्री की कथा न करनी चाहिये और ब्रम्हचारिणी स्त्री को पुरुष की कथा न करनी चाहिये।

जिनदासः—सखे ! इसमें दोष ही क्या है ?

जिनदत्तः—मेरे परम प्रिय मित्र! जिस प्रकार शत्रु का नाम सुनते ही क्रोध उत्पन्न हो जाता है तथा मित्र का नाम सुनते ही स्नेह राग जाग उठता है या नींबू का नाम सुनते ही मुख में जल आ जाता है तथा खाने की बातें सुनते ही खाने की इच्छा बढ जाती है अथवा रात्रि के समय भूत पिशाच या सर्प व सिंहादि की बातें सुनते ही भय लगने लग जाता है ठीक उसी प्रकार कामजन्य स्त्री या पुरुष की कथा करते ही काम राग के उत्पन्न होने की संभावना की जा सक्ती है। अतः ब्रम्यचर्य की रक्षा के लिये स्त्री कथा या पुरुष कथा न करनी चाहिये।

में गमन करने लग जाता है तब उस समय द्रव्यात्मा गौण रूप होकर प्रधान कषायात्मा नाम से फिर उसे कहा जाता है।

क्योंकि कषाय संज्ञा क्रोध, मान, माया और लोभ की कथन की गई है जैसे कि यह क्रोधी आत्मा है, यह मानी आत्मा है यह मायी (छल करने वाला) आत्मा है यह लोभी आत्मा है। सो इन चारों नामसे उस समय द्रव्यात्मा उक्त चारों में परिणित हो जाता है। उक्त ही अपेक्षा से फिर उसे कषायात्मा कहा जाता है।

फिर जिस समय द्रव्यात्मा मन, वचन और काय के व्यौपार में प्रविष्ट होता है उस समय उस द्रव्यात्मा को योगात्मा कहा जाता है। इसी नय की अपेक्षा से कहाजाता है कि अपनी आत्मा ही वश करना चाहिये। सो यहांपर आत्मा शब्द से मन आदि का वर्णन किया गया है। क्योंकि मनयोग, वचनयोग और काययोग में द्रव्यात्मा का ही परिणमन हुआ है। इसी कारण से उसे मनःयोग कहते हैं।

सो मनमें चार प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं इसी कारण से मन के भी चार ही भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि जिस समय मन में सत्य संकल्प उत्पन्न होता है तब उस समय सत्यमनःयोग कहाजाता है। जिस समय मन में असत्य संकल्प उत्पन्न होता है तब उस समय असत्य मनःयोग कहा

जिनदत्तः—मित्रवर्य्य ! जिस प्रकार लाख का घडा अग्नि के समीप रखा हुआ पिघल जाता है तथा घृत अग्नि के पास रक्खा हुआ पिघल जाता है वा चमक पत्थर के निकट लोहा रक्खा हुआ वह चमक पत्थर की आकर्षणता से खींचा चला जाता है ठीक उसी प्रकार स्त्रियों के संसर्ग से मन की गति विकृत भाव को शीघ्र प्राप्त हो जायगी। जिससे ब्रम्हचर्य्य व्रत में आघात पहुंचने की संभावना की जा सकेगी। अतएव ब्रम्हचारी पुरुष स्त्रियों के समूह के साथ बैठे रहना इत्यादि क्रियाओं को छोड देवे। कारण कि जब अल्प सत्व-वाले आत्माओं का मन स्वतः ही चंचल रहता है किंतु जब वे स्त्रियों का संसर्ग करेंगे तब तो कहना ही क्या ?

जिनदासः—मित्रवर्य्य ! अब इसे मैं ठीक समझ गया किंतु अब मुझे आप चतुर्थ नियम सुनाइये।

जिनदत्तः—सखे ! आप चतुर्थ नियम को ध्यान पूर्वक सुनें।

"नो इत्थीणं इंद्रियाणि मणोहराइं मणो रमाइं आलोइत्ता निज्झमाइत्ता भवइ ४"

ब्रम्हचारी पुरुष स्त्रियों की इंद्रियों को जो

मनोहर और मन को रमणीक हैं उनको न देखे। क्योंकि उनके देखने से उसके मन में काम राग के उत्पन्न होने की संभावना की जा सकेगी। अतएव वह पुरुष स्त्रियों की इंद्रियों को न देखे। इसी प्रकार ब्रम्हचारिणी स्त्री पुरुषों की इंद्रियों का अवलोकन न करे क्योंकि जो दोष स्त्री को देखने से पुरुष को उत्पन्न होते हैं वही दोष पुरुष को देखने से स्त्री को उत्पन्न हो जाते हैं।

जिनदासः—सखे ! इंद्रियों को देखने से किस प्रकार से दोष उत्पन्न हो सक्ते हैं ?

जिनदत्तः—मित्रवर्य्य ! जिस प्रकार जिसकी आंखें दुखती हों वह सूर्य को देखे, जिस प्रकार मृगी रोग-वाला पुरुष जल को देखे, जिस प्रकार चोर किसी के पदार्थ को देखे तथा जिस प्रकार पतंग दीपक की शिखा को देखकर अपने आपे में नहीं रहता ठीक उसी प्रकार कामी आत्मा किसी भी अवयव को देखकर फिर अपना मन अपने वश में नहीं रख सकता। अतएव ब्रम्हचारी पुरुष स्त्रियों के अंगोपांग का ब्रम्हचर्य की रक्षा के लिये अवलोकन न करे।

जिनदासः—सुहृदयवर्य । यह तो मैं समझ गया । अब मुझे ब्रम्हचर्य का पांचवा नियम सुनाइये ।

जिनदत्तः—सखे ! आप ध्यान पूर्वक सुनिये । " **नो पणीय रस भोई** ॥ ५ ॥ प्रणीत रस का भोजन न करें । अर्थात बल वर्द्धक और अत्यंत स्निग्ध रस के भोजन करने से मन में विकार उत्पन्न होने की संभावना की जा सकेगी । जिसस फिर अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होने लग जायंगे । अतः प्रणीत भोजन कदापि न करना चाहिये ।

जिनदासः—सखे ! प्रणीत भोजन करने से क्या हानि होती है ? आप मुझे इसका दिग्दर्शन कराइये ।

जिनदत्तः—मित्रवर्य्य ! जिस प्रकार घृत की आहुति से अग्नि प्रचंड हो उठती है ठीक उसी प्रकार प्रणीत भोजन करने से इंद्रिय और मन प्रसन्न हो जाता है जिससे फिर मन में नाना प्रकार के काम के उत्पादन करने वाले संकल्प उत्पन्न होने लग जाते हैं जिसका परिणाम फिर इस प्रकार होता है कि जैसे जीण वस्त्र में अधिक भार बांधा जाने पर वह वस्त्र फट जाता है और जिस प्रकार जल से भरा हुआ बादल

कहीं पर तो वर्षता ही है। इसी प्रकार सरस भोजन करने वाले व्यक्ति के ब्रम्हचर्य के विषय में भी जानना चाहिये। अतएव ब्रम्हचारी को सरस आहार न करना चाहिये।

जिनदासः—सखे ! यह तो मैं ठीक समझ गया। अब मुझे ब्रम्हचर्य के छठे नियम का बोध कराइये।

जिनदत्तः—सुहृदयवर्य ! ध्यान देकर सुनिये। **नो पाण भोयणस्स अइमायाए अहारइत्ता** ॥ ६ ॥ पानी और भोजन प्रमाण से अधिक न खाए। क्यों कि अति मात्रा भोजन करने से रोग या ब्रह्मचर्य में विघ्न अवश्य उत्पन्न हो जायगा। अतः प्रमाण से अधिक अन्न और पानी ग्रहण न करना चाहिये।

दासः—सखे इसमें क्या दोष है।

दत्तः—मित्र ! जिस प्रकार प्रमाण से अधिक अग्नि में डाला हुआ इंधन आग को बुझा देता है तथा जिस प्रकार प्रमाण से अधिक भार पुरुष वा पशुको दबा देता है, जिस प्रकार रसोई के वर्तन में अधिक अन्न डाला हुआ उस वर्तन से बाहिर गिरता रहता है तथा जिस प्रकार शक्ति

से बाहिर व्यायाम किया हुआ आपत्ति जनक होजाता है ठीक उसी प्रकार अधिक भोजन किया हुआ ब्रह्मचर्य की रक्षा का कारण न होता हुआ प्रत्युत हानि का कारण हो जाता है। अतएव अधिक भोजन न करना चाहिये।

जिनदासः—तो फिर क्या भोजन ही न करना चाहिये।

जिनदत्तः—मित्र ! ऐसा नहीं, किंतु प्रमाण से अधिक भोजन न करना चाहिये। यदि भोजन ही न किया जायगा तब प्राणों का रहना अत्यंत कठिन हो जायगा जिस से फिर आत्मघात का पाप लगेगा।

जिनदासः—मित्र। यह तो मैं ठीक समझ गया। अब मुझे ब्रह्मचर्य के सातवें नियम का विवरण कहिये।

जिनदत्तः—सखे ! ध्यान पूर्वक आप सुनिये। **'नो इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्व कीलियाइं समरइता भवइ ॥ ७ ॥** स्त्रियों के साथ की हुई पूर्व कामक्रीडा तथा रति उन क्रियाओं की स्मृति करने से काम विकार के उत्पन्न होने शंका की जा सक्ती है। अतः पूर्व भोगों स्मृति कदापि न करें। इसी प्रकार ब्रह्मचारि

स्त्री-पुरुषों की की हुई काम क्रीडा की स्मृति न करे।

जिनदासः—स्मृति करने से किस दोष की प्राप्ति होती है ?

जिनदत्तः—सखे ! जिस प्रकार किसी व्यक्ति के साथ किसी कष्ट के समय किसी ने सद्वर्ताव किया और किसी ने उसको और भी कष्ट दिया जब वह व्यक्ति कष्ट से विमुक्त होता है तब वह किसी समय उन दोनों व्यक्तियों के वर्ताव की स्मृति करता है तब जिसने उसके साथ सद्वर्ताव किया था उसका उपकार मानता हुआ उसके प्रति राग भाव प्रकाश करता है। परंतु जिसने और भी कष्ट दिया था उसके वर्ताव की स्मृति करता है तब उसके भावों में संक्लेश और वैर भाव उत्पन्न होने लग जाता है। सो जिस प्रकार यह वर्ताव स्मृति किया हुआ राग और द्वेष के उत्पन्न करने का कारण बन जाता है ठीक उसी प्रकार पूर्व भोगे हुए काम की यदि स्मृति की जायगी तब वह भी भावों के बिगाडने का कारण बन जायँगी अतः स्मृति न करनी चाहिये।

जिनदासः—सखे ! जो बाल-ब्रह्मचारी हैं उनके लिये तो यह नियम कार्य साधक नहीं सिद्ध हुआ क्यों कि उनको तो किसी बात का पता ही नहीं है ।

जिनदत्तः—मित्रवर्य ! जो बाल ब्रह्मचारी हों वे पूर्वोक्त विषयों को सुनकर या किसी पुस्तक से पढकर फिर उस विषय की स्मृति न करें क्योंकि फिर उनको भी पूर्वोक्त दोषों की प्राप्ति होने की संभावना की जा सकेगी। जिससे ब्रम्हचर्य व्रत में नाना प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न होने लगेगी। अतएव विषयों की स्मृति न करनी चाहिये ।

जिनदासः—सखे ! इन नियमों को तो मैं ठीक समझ गया हूं किंतु अब आप मुझे आठवें नियम का यिषय कहिये ।

जिनदत्तः—वयस्य ! प्रेम पूर्वक इस नियम को श्रवण कीजिये। "**नो सद्धाणुवाई नो रूवाणुवाई नो गंधाणुवाई नो रसाणुवाई नो फासाणुवाई नो सिलोगाणुवाई**" ॥ ८ ॥ ब्रह्मचारी पुरुष शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श तथा स्वश्लाघा इनमें मूर्छित न होवे । अर्थात् काम-जन्य शब्द, काम-जन्य रूप, काम-

जन्य गंध, काम-जन्य रस और काम-जन्य स्पर्श तथा काम-जन्य स्वश्लाघा इनमें मूर्छित कदापि न होवे, कारण कि जो अनभिज्ञ आत्माएँ पंचेंद्रियों के अर्थों विषय मूर्छित हो रहे हैं वे अकाल में ही मृत्यु प्राप्त कर लेते हैं। जैसे किः—मृग, पतंग, सर्प या भ्रमर, मत्स्य और हाथी, उक्त सब जीव यथा क्रम से पांचों इंद्रियों में से एक २ के वश होते ही अकाल में मृत्यु प्राप्त कर लेते हैं। फिर जो पांचों इंद्रियों के वश में हो जाता है उस मनुष्य की बात ही क्या कहना है ? इस लिये ब्रम्हचारी को उक्त पांचों विषयों से बचना चाहिये। तथा जिस प्रकार मेघ का शब्द सुनकर मयूर नाच करने लग जाता है ठीक उसी प्रकार काम-जन्य शब्दों के सुनने से ब्रम्हचारी का मन भी शुद्ध रहना कठिन होजाता है। अतएव काम-जन्य शब्दों को न सुनना चाहिये।

जिनदासः—सखे ! मैं इसे भी ठीक समझ गया। अब मुझे ब्रह्मचर्य के नववें नियम का बोध कराइये।

जिनदत्तः—मित्रवर्य्य ! अब आप इस व्रत के नववें नियम को ध्यान पूर्वक सुनिये। **नो साया सोक्ख**

पडिबद्धे यावि भवई' साता वेदनीय कर्म के उदय होने से जो सुख प्राप्त होगया हो उस में प्रतिबद्ध न होवे। अर्थात जो सांसारिक सुख, सातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त हो रहे हों उन में मूर्छित न होना ब्रह्मचारी का मुख्य कर्तव्य है।

इस के कथन करने का सारांश यह है कि जब सांसारिक सुखों में निमग्न हो जायगा तब उसका आत्मा ब्रह्मचर्य व्रत में कठिनता से रह सकेगा। इसलिये ब्रह्मचारी को यह योग्य है कि वह किसी प्रकार के सुखों की इच्छा न करे। जिस प्रकार शीतल जल के सुख को चाहने वाला महिष जल में प्रवेश किया हुआ ग्राह नामक जलचर जीव का भक्ष हो जाता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचारी आत्मा फिर साता के सुख को इच्छा करने से दुखों का भोगी बन जाता है। सो उक्त विधी से सर्ववृत्ति महात्मा लोग उक्त व्रत का पालन करते हैं।

जिनदासः—गृहस्थ को इस व्रत का सेवन किस प्रकार करना चाहिये ?

जिनदत्तः—मित्रवर्य ! इस व्रत का सेवन निम्न कथनानुसार करना चाहिये। जैसे कि प्रथम तो

गृहस्थ को अपनी स्त्री सिवाय वैश्या संग या परस्त्री संग तथा कुचेष्टा कर्म सर्वथा त्याग देना चाहिये। फिर शुद्ध भोजन और शुद्ध आचार तथा शुद्ध व्यवहार उसे धारण करना चाहिये।

जिनदासः—मित्रवर्य ! शुद्ध आचार से आपका क्या मंतव्य है ?

जिनदत्तः—सखे ! जिस आचरण से अपने मन में विकार उत्पन्न हो जावे तथा जिस आचरण का प्रभाव आत्मा पर अच्छा न पडे उस प्रकार के कदाचारों से सदैव बचना चाहिये।

जिनदासः—सखे ! दृष्टांत देकर आप मुझे समझाइये।

जिनदत्तः—शुद्ध आचार उसी का नाम है जिस आचार से अपने मनमें कोई भी विकार उत्पन्न न होवे। जैसे कि:—जब कोई पुरुष मांस खाने वाले की या मद्यपान करने वाले की तथा वैश्यादि की संगती करेगा तब उसके मन में अवश्यमेव कुत्सित विचार उत्पन्न होने लग जायंगें। अतएव आचार शुद्धि रखने वाला आत्मा जिन स्थानों की प्रतीति न होवे तथा जिन २

स्त्री या पुरुषों की प्रतीति न होवे उनकी संगती कदापि न करे सो उसी का नाम शुद्धाचार है ।

जिनदासः—वयस्य ! शुद्ध व्यवहार किस का नाम है ?

जिनदत्तः—मित्रवर्य्य ! शुद्ध व्यवहार उसी का नाम है जिस व्यवहार से अपने मन की पवित्रता बनी रहे । जैसे शुद्ध वेषादि ।

जिनदासः—सुहृदयवर्य ! शुद्ध वेष कहने से आपका क्या मंतव्य है ? आप इसका स्फुट रूप से वर्णन कीजिये ।

नदत्तः—शुद्ध वेष से हमारा यह मन्तव्य है कि ब्रह्मचारी को सादे और स्वदेशी वेष की आवश्यक्ता है । कारण कि जब माता पिता अपने प्रिय बालकों को बाल्यावस्था में ही शृंगार करा सदैव रखते हैं तब वह अपने पुत्र के पवित्र जीवन पर कुल्हाडा मारने वाला काम करने लग जाते हैं । क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि जिस प्रकार जल के स्थानपर वनस्पति अवश्य होती है ठीक उसी प्रकार जहां पर शृंगार है वहां पर विकार अवश्यमेव उदय होजाता है ।

जिस प्रकार एक सुंदर या पवित्र वस्त्र में कोयला बांधा हुआ हो तब उसको प्रत्येक व्यक्ति उठाना चाहता है ठीक उसी प्रकार जिस का शरीर शृंगारित हो प्रायः उसको प्रत्येक कामी व्यक्ति काम दृष्टि से देखने लग जाता है ।

... सिद्ध हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति का सादा वेष चाहिये ।

तथा जब कहीं पर जाना पडे तब वस्त्र भारी हों और जिससे अंगोपांग पर किसी की दृष्टि न पड सके इस प्रकार के वस्त्र धारण करना चाहिये ।

देखा जाता है कि देश में बहुधा कदाचार की प्रवृत्ति वेष द्वारा बढ़ गई है । इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि नूतन फैशन को छोडकर सादे वेष के द्वारा अपने पवित्र शरीर को सुरक्षित रखते हुए जीवन व्यतीत करें ।

जिनदासः—सखे ! क्या इस ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा आत्मा अपना कल्याण कर सक्ता है ?

जैनदत्तः—वयस्य ! हां, इस पवित्र व्रत के द्वारा आत्मा अपना कल्याण कर सक्ता है क्योंकि श्रीभगवानने प्रतिपादन किया है कि " **तवेसु या उत्तम बंभचेरं** " यावन्मात्र तप कर्म हैं उनमें उत्तम

तप ब्रह्मचर्य व्रत ही है। इसलिये इस व्रत के धारण करने वाले देवों के भी पूज्य माने जाते हैं। जैसे कि:—" **देव दाणव गंधवा जक्ख रक्खस्स किन्नरा बंभयारीं नमंसंति दुक्करंजे करंति**"...नाम हैं त् ब्रह्मचारी को देव, दानव, देव गंधर्व देवना और राक्षस तथा किन्नर देव इत्यादि सब ही नमस्कार करते हैं कारण कि इस व्रत का धारण करना शूर वीर आत्माओं का ही कर्तव्य है।

इसलिये हे मित्र! देश धर्म, या समाजोन्नति के लिये इस व्रत को अवश्य-मेव धारण करना चाहिये। तथा निर्वाण प्राप्ति के लिये इस ब्रह्मचर्य व्रत को धारण कर सुख की प्राप्ति करनी चाहिये।

जिनदासः—सखे! मैं आपका उपकार मानता हूं जो आपने मुझे इस व्रत का पवित्र उपदेश किया है और मैं आपके समक्ष श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी की साक्षी से आयु पर्य्यंत इस महाव्रत को धारण करता हूं और मैं यह प्रण भी करता हूं कि अब मैं धर्म या समाजोन्नति के लिये अपना जीवन यावज्जी-वन पर्यंत समर्पण करूंगा। मैं अपने जीवन

की पर्वाह न करता हुआ धर्म या समाज सेवा ही अब करता रहूंगा ।

जिनदत्तः—सखे ! आपके पवित्र विचारों की मैं अपने पवित्र हृदय से अनुमोदना करता हूं और साथ ही श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी से प्रार्थना करता हूं कि वे अपनी पवित्र दया से आपकी की हुई प्रतिज्ञाएं निर्विघ्न समाप्त करायें अर्थात् आपमें आत्मिक साहस उत्पन्न हो जावे कि जिससे आप अपनी की हुई प्रतिज्ञाएं निर्विघ्नता से और सुख पूर्वक पालन कर सकें ।